आर्थिक योजनायें

और

गांधी जी

दूधनाथ चतुर्वेदी

आर्थिक योजनायें

और

गांधी जी

लेखक :—

प्रोफेसर दूधनाथ चतुर्वेदी, एम० ए०

काशीविद्यापीठ, वाराणसी ।

प्रकाशक :—

आधुनिक पुस्तक मन्दिर

चौक, वाराणसी

प्रथम संस्करण] १९५६ [मूल्य १)

दो शब्द

यह पुस्तिका 'अर्थशास्त्र की विवेचना' पुस्तक का शेषांश है। इस पुस्तिका में गांधी जी की समाज रचना की कल्पना का विश्लेषण, अन्य प्रचलित योजनाओं और आर्थिक पद्धतियों की भूमिका में किया गया है। आज के समाज रचना के युग में चिन्तन करने की प्रेरणा इससे भी मिले यही इस पुस्तिका का अभिप्राय है।

काशीविद्यापीठ
२५ मई १९५६

दूधनाथ चतुर्वेदी

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

योजना की ओर

मानव जीवन के विकास का प्रत्येक युग और सोपान अपने चिन्तन और कार्य-विधि का स्वयं विकास कर लेता है। मानवता का इतिहास, जो निर्माण और एकता की ओर अग्रसर हो रहा है, इस बात का सचमुच में साक्षी है। प्रत्येक युग पिछले युगों का उत्तराधिकारी होने के कारण प्राचीनता की भूमिका में नव-निर्माण करता है। व्यापक दृष्टिकोण से सब में एकता का आभास होता है। इसीलिए प्राचीनता और नवीनता के मध्य में कोई रेखा खींचना पूर्ण संभव नहीं हो सकता। आज का युग वैज्ञानिक युग है। हमारे चिन्तन का मापदण्ड विज्ञान है और हमारे कार्य का मापदण्ड विशिष्ट योजना है। इन दोनों ने हमारी जीवन-विधि और जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को पूर्णतया प्रभावित कर लिया है। सामाजिक जीवन का एक नया स्वरूप हमारे समक्ष है जो नये चिन्तन, नये जीवन तथा नयी व्यवस्था के लिए हमें बाध्य कर रहा है। इसलिए अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को नये युग के अनुकूल आयोजित करना है।

इस युग के पहले धार्मिक द्वन्द्व, अन्तर्राष्ट्रीय विशृंखलता, धार्मिक कट्टरता, अन्ध विश्वास, संकीर्ण समुदाय, एक दूसरे की संस्कृति के प्रति

घृणा और अश्रद्धा का प्रसार था। न तो उनके चिन्तन में साम्य था और न उनके जीवन में एकता थी। सहिष्णुता का पूर्ण अभाव था। अतएव एक सहजीवन की कल्पना उस युग में संभव न हो सकी। चिन्तन तथा व्यवहार के दोनों क्षेत्रों में असामञ्जस्य तथा विश्रृंखलता का राज्य था। प्रत्येक व्यक्ति और विचार अपने को ही सही मानता था।

व्यक्तिवादी प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं, क्योंकि व्यक्ति ही का महात्म सभ्यता की प्रक्रिया में मान्यता प्राप्त कर चुका है। मानव जीवन में व्यक्तिवादी दर्शन ही वास्तविक दर्शन है। आदर्शवादी विचारों में एक विशेष आदर्श या मानव जीवन का एक विशेष ध्येय ही सत्य है। यही मानव सभ्यता को अग्रसर करता है। भौतिकवादी विचारों के अनुसार व्यक्ति तथा आदर्श का कोई महत्व नहीं है। प्रकृति और जीवन के सही सिद्धान्त का विश्लेषण मानव इतिहास की प्रक्रिया के प्राकृतिक या आर्थिक व्याख्या में ही हो सकता है। धर्मवादी विचारों के अनुसार मानवता की धारा और भाग्य का निर्माण उन्हीं के देवदूतों और देवताओं द्वारा हुआ है और यह सब समय के लिए, सब स्थान के लिए और सबके लिए सत्य है। उनके विचार काल तथा स्थान से बाधित नहीं हैं। समाजवादी विचारों के अनुसार अन्य दर्शन असत्य हैं। मानव विकास की व्याख्या वर्ग-संघर्ष तथा आर्थिक नियन्ता के अन्तर्गत ही पूर्ण रूपेण हो सकती है और वही व्याख्या सत्य है। जातिवादी विचारों के अनुसार कोई विशेष जाति उच्च संस्कार युक्त है और पूर्णतया पवित्र है। यही विशेष जाति संसार को प्रकाश देती है, विकसित करती है और मानव सभ्यता का सृजन करती है। अतएव इसी जाति की संरक्षता और नियन्त्रण में मानव समाज सुखी तथा सुसंस्कृत रह सकता है। सर्वोदय विचार के अनुसार मानव का विकास उसके समग्र विकास में छिपा है। आध्यात्मिक या नैतिक और भौतिक विकास साथ-साथ होता है परन्तु नैतिक विकास अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों

का उचित विकास होना आवश्यक है। बिना दोनों के विकास के मानव सभ्यता भयावह परिस्थिति में परिणित हो जाती है; सबके सद्गुणों का विकास हो और सबके दुर्गुणों का पतन हो तभी प्रत्येक जीव साथ-साथ ऊँचा उठ सकेगा।

इन विचारों की व्याख्या के उपरान्त अनेकों मूल्यों का विश्लेषण आवश्यक है। भौतिक मूल्य के अन्तर्गत वस्तु को ही सत्य और प्रधान माना जाता है। इसीलिए इसे वस्तुगत मूल्य भी कहते हैं। आदर्श मूल्य के अन्तर्गत वस्तु का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता बल्कि उसका निर्धारण आत्मगतः भावना से होता है। आर्थिक मूल्य के अन्तर्गत मनुष्य को सीमित समय, स्थान तथा साधन से सम्बद्ध कराना होता है। इसके मूल में उपयोगिता और अनुपयोगिता का मापदण्ड होता है। नैतिक मूल्य के अन्तर्गत मनुष्य को दूसरे मनुष्य से सम्बद्ध कराना होता है जिसमें नैतिक भावना या उचित अनुचित का मापदण्ड होता है। राजनैतिक मूल्य के अन्तर्गत एक समाज का दूसरे समाज के साथ या व्यक्ति के साथ सम्बन्ध निश्चित करना होता है तथा उसके पीछे उनमें शान्ति और अशान्ति की समस्या का हल प्रधान रहता है। कलात्मक या सौन्दर्य मूल्य के अन्तर्गत व्यक्तियों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य और प्राकृतिक तादात्म का निर्धारण होता है। धार्मिक मूल्य के अन्तर्गत व्यक्ति तथा विश्व में तदात्म की कल्पना होती है। इनमें केवल आर्थिक मूल्य 'साधन' को प्रमुखता देते हैं, अन्य मूल्य 'साध्य' को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं। परन्तु इन सब मूल्यों का उद्देश्य और आदर्श मानव मूल्य ही है। मानव मूल्य की प्रतिष्ठा ही समाज को ऊपर उठाती है और इसी की कमी पतन की ओर ले जाती है।

ये अनेकों विचारधारायें अपने को सत्य तथा अन्य को असत्य प्रमाणित कर युगों में कभी विशेष महत्व प्राप्त कर लेतीं, परन्तु आज भी इन्हीं की पृष्ठभूमि में नए विचार पनप रहे हैं। कालान्तर में इनमें संकीर्णता आ गई और इनका पतन हुआ परन्तु मानव चिन्तन जगत में ये विविध

रूप में आते जा रहे हैं। अन्तिम विचार को छोड़कर अन्य विचार एकांगी हैं। उनमें समग्र मानव विकास और मानवता की माँग पर पूर्ण विचार नहीं किया गया है। मानवता जीवनविधि और प्रचलित व्यवहार के तंग क्षेत्र में अपने को नहीं बाँधती बल्कि मानवता का सतत् प्रयास अधिकतम एकता और न्यूनतम नियंत्रण की प्राप्ति का रहता है। मानवता यदि इनमें बँध जाती है तो वह जड़वत् बनकर ह्रासोन्मुख हो जाती है। यही कारण है कि मानवता को समय-समय पर बड़ी ठेस पहुँचती है। एक विशेष वर्ग और पद्धति, जाति और धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता, राष्ट्र तथा समुदाय, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक, दर्शन और विश्वास की कट्टरता और श्रेष्ठता ने बौद्धिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अस्त-व्यस्त असंगत वातावरण का प्रसार कर दिया है। जब तक मानव जीवन की विचारधारा में सहिष्णुता, आदान-प्रदान की भावना नहीं आएगी; अनेकों सामाजिक संस्थाओं में परिवर्द्धन सम्वर्धन तथा संशोधन की ग्राह्यता न आएगी, और अनेकों सिद्धान्तों में समग्रता का रूप न होगा, तब तक हमारे वैचारिक क्षेत्र में कलुषित द्वन्द्व और अस्पष्टता वर्तमान रहेगी। चूँकि विचार पथ-प्रदर्शक होता है इसलिए मानवता और सभ्यता की रक्षा इन विचारों की समग्रता तथा साम्यता पर निर्भर है। मानवता में समग्रता और युगों की विविध संस्कृतियों का समावेश है। यह किसी विशेष काल की देन नहीं है। इसलिए इसकी रक्षा तभी संभव है जब इसमें विशालता हो और एक समग्र दृष्टिकोण हो इसे हम काल और स्थान से नहीं बाँध सकते।

विचारों के क्षेत्र से अब हम आज के आचार क्षेत्र में आते हैं। जैसा विचार होगा वैसा ही आचार भी होगा। बर्बादी और अकिंचनता प्रत्येक स्थल पर दृष्टिगत हो रही है। सबलों ने निर्बलों पर आधिपत्य जमा रखा है। अधिक शक्ति के लिए सबल परस्पर युद्ध करते हैं। निरीह प्राणियों का हनन होता है। नैतिकता का पतन होता है। भय, निराशा, अकिंचनता

तथा अरक्षा की भावना सब जगह व्याप्त हो रही है। विश्व के स्वस्थ नागरिक बिना किसी प्रयोजन के आत्म हत्या करते हैं। ऐसा विश्वास होता जा रहा है कि मानवता और सभ्यता का समूल विनाश निकट भविष्य में होने वाला है। शान्ति के समय भी उत्पादन, उपभोग तथा वितरण में छीना झपटी का हाहाकार मचा हुआ है। मानव जीवन का नियमन अजीब सम्बन्धों से हो रहा है। आर्थिक क्षेत्र में मालिक और मजदूर, राजनैतिक क्षेत्र में राजा और प्रजा का सम्बन्ध है। आर्थिक पद्धति में लाभ, लगान, ब्याज तथा मजदूरी, एकाधिकार बाजार तथा व्यापार, पारिवारिक पद्धति में जन-संख्या वृद्धि तथा भयावह रूग्णता का ही समावेश है। विषम वितरण तथा असंतुलन, बर्बादी तथा अकिंचनता, सतत अवकाश तथा सतत काम, बाहुल्य तथा न्यूनता, प्रासाद और झोपड़ियाँ ये साथ-साथ समाज में पाये जाते हैं।

इसका मूल कारण क्या है? प्रथम तो यान्त्रिक कला का तीव्रगति से विकास होता जा रहा है। दूसरे प्रादेशिक सीमायें और सांस्कृतिक दीवारें तेजी से ढहती जा रही हैं, जिससे आचार-विचार में संकीर्णता के बजाय विस्तार होता जा रहा है। तीसरे एक मिश्रित नये समाज का सृजन होता जा रहा है, जिसके नये विचार, नये जीवन तथा नई कार्य-विधि है। चौथे आर्थिक ढाँचे, राजनैतिक सम्बन्ध, सामाजिक ढाँचे, बौद्धिक ग्राह्यता तथा नैतिक विचारों में बड़ा दुराव उत्पन्न हो गया है। इनके प्रसार तथा विकास में कोई तारतम्य और एकता नहीं है। पाँचवें पुरानी राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संस्थायें वर्तमान युग की मानव सुरक्षा, न्याय तथा कल्याण की माँग पूरी करने में असमर्थ हो गई हैं। मूल्य का मापदण्ड ही भिन्न हो गया है। मानव मूल्य तिरोहित हो गया है। इसीलिए मानव व्यवहार में एक कटुता और कठोरता उत्पन्न हो गई है। एक ओर जनसंख्या में वृद्धि होती जा रही है दूसरी ओर बढ़ी जनसंख्या की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए भौतिक साधन पर व्यक्तिगत

स्वामित्व और स्वार्थ की लिप्सा एकत्रीकरण को प्रोत्साहित करती जा रही है; जिससे उपलब्ध भौतिक साधन भी अलभ्य होते जा रहे हैं। करोड़ों मानव पेट की ज्वाला से पीड़ित हैं। आज समाज के कोने-कोने से सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक न्याय तथा सामाजिक कल्याण की पुकार हो रही है। मानव मात्र की रक्षा की समस्या जटिल बन गई है। विरोधी भावनायें तथा परिस्थितियाँ समाज में बढ़ती जा रही हैं। अतुल वासना और भोषण दीनता, घोर आलस्य तथा घोर परिश्रम, व्यक्ति तथा समाज, शासन तथा स्वतन्त्रता आदि के जाल में हम पूर्णतया फँस गए हैं। हमारे व्यवहार एक दूसरे के प्रति पशुवत हो गए हैं। सामाजिक न्याय के तत्वों का अभाव हो गया है। अधिकार और कर्त्तव्य, मुक्ति तथा नियंत्रण, समता तथा न्याय, काम तथा मनोरंजन, कला, उचित अवकाश, उचित वितरण में मानवीय दृष्टिकोण, प्रत्येक को कार्य करने का अधिकार, सम्पत्ति तथा सुख का समन्वय तथा आर्थिक जीवन में सामाजिक संतुलन आज के समाज से तिरोहित हो गए हैं।

योजना युग की माँग—मानव प्रयास कर रहा है कि समाज में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों और वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग करके एक सुखमय शान्तिमय समाज की रचना करे। इस नये समाज में मानव का समग्र विकास हो। सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, व्यक्तिगत तथा नैतिक विकसित मानव का समाज में पदार्पण हो और यह तत्व सतत् समाज में वर्तमान रहें। रचना का प्रयास किया गया परन्तु कालान्तर में रचना दोषमय सिद्ध हुई और समाज विकृत हो गया। पुनः प्रयास हुए और नवीन परिवर्तन तथा मूल्य आए परन्तु वे भी विकृत हो गए। इसी प्रकार का तारतम्य चला आ रहा है। योजना सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक क्रान्ति का संदेशवाहक है। मानवता को परखना और ज्ञान के आधार पर उसकी स्वतन्त्रता, सुरक्षा और कल्याण की व्यवस्था करना योजना की कला है। मानवता की सार्व-

भौमिकता तथा व्यापकता को मान्यता देना होगा। समस्त मानव मूल में एक प्रेरणा तथा जीवन से अनुप्राणित है। सबका एक आधार, एक उद्देश्य तथा एक जीवन है। अब तक संकीर्ण भावनाओं और संस्थाओं में मानवता को बाँधकर हमने अपार भूल की है। आज की आर्थिक क्रियायें, राजनैतिक सम्बन्ध, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वरूप किसी विशेष सीमा में नहीं बँधे हैं। सबके सब एक दूसरे पर निर्भर हैं और सब में एकता तथा एक रस का ही प्रसार है। अतएव योजना को आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक तत्वों का मिश्रण करके साध्य और साधन का समन्वय करके और भौतिक साधनों तथा समस्त समाज के कल्याण के ताने-बाने से रचना करनी होगी। इसीलिए राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन तथा व्यापार आदि योजनाओं का निर्माण किया जा रहा है। इन सबका उद्देश्य मानव है। सुरक्षा प्रदान करना, जीवन मान को ऊँचा उठाना, पाँच पापों दीनता, बेकारी, बीमारी, गन्दगी, अज्ञानता का उन्मूलन करना, संस्कृति तथा शिक्षा के विकास से मानव में रचनात्मक तथा कल्याणात्मक शक्ति का सृजन करना जिससे समाज में अधिकतम उत्पादन हो; उचित वितरण हो और दैहिक, दैविक तथा भौतिक आपत्तियों से उत्पन्न असमर्थता एवं विवशता का अन्त हो जाय, यही योजना का लक्ष्य है। एक स्वस्थ नागरिक और एक स्वस्थ समाज यही नये समाज की कल्पना है। इसे प्राप्त करने की कला ही 'योजना' है।

———

आर्थिक योजना के मूल तत्व

योजना का एक मन्तव्य और उद्देश्य होता है। दूसरे इस ध्येय को एक निश्चित समय के भीतर प्राप्त करना होता है। तीसरे ध्येय की प्राप्ति के लिए आर्थिक साधनों का समुचित प्रबन्ध करना होता है। चौथे उत्पादक साधनों पर नियंत्रण करना पड़ता है। पाँचवे इस योजना का निर्णय और इस पर नियंत्रण व्यक्तिगत न होकर राजकीय होता है।

इन्हीं तत्वों के आधार पर संसार में प्रचलित योजनाओं के तीन भेद किए गए हैं।

(१) साम्यवादी आर्थिक योजना।

(२) जर्मनी की नात्सी योजना और इटली की फासिस्ट योजना।

(३) पूँजीवादी आर्थिक योजना।

प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में कार्यप्रणाली तथा तीव्रता आदि की साम्यता है, केवल दो बातों में अन्तर है। साम्यवादी आर्थिक योजना में उत्पादक सभी भौतिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व और नियंत्रण होता है। राज्य अपनी इच्छानुसार उन साधनों का प्रयोग करता है। परन्तु फासिस्ट योजना में स्वामित्व व्यक्तिगत रहता है लेकिन उन साधनों का उपयोग राज्य की आज्ञा और इच्छानुसार ही किया जाता है। दूसरे साम्यवादी योजना अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्रणेता होती है। दलित तथा अकिंचन वर्ग का पूर्ण उत्थान करना इस योजना का लक्ष्य होता है। फासिस्ट योजना का ध्येय एक अल्प-संख्यक वर्ग या दल का हित वर्धन होता है। दल को शक्ति प्रदान करना और उससे देश को सैनिक और भौतिक बल प्रदान करना इसका उद्देश्य होता है। इसीलिए कहा जाता है कि इस योजना में कल्याण ध्येय न होकर शक्ति प्राप्ति ध्येय होता

है। फासिस्ट योजना जर्मनी तथा इटली की योजनायें थीं तथा साम्यवादी योजना रूस की योजना है।

योजनाओं का विभिन्न स्वरूप आज इस युग में है। सभी आर्थिक दोषों का निराकरण इन योजनाओं द्वारा किया जा रहा है। साम्यवादी, समाजवादी, राष्ट्रवादी, सैनिकवादी, औद्योगिक, मजदूरवादी, अर्थशास्त्री, राजनैतिक, व्यक्तिवादी, पूँजीवादी आदि अनेकों योजनाओं के स्वरूप हैं। इन योजनाओं का सृजन क्यों हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है। पहला कारण वर्तमान पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के कतिपय दोष हैं। इस पद्धति में उत्पादन वृद्धि तो हुई परन्तु आर्थिक विषमता ने भयंकर रूप धारण कर लिया। समाज की बड़ी धनराशि एक मुट्ठी भर लोगों के हाथों में आ जाती है और एक बड़ा दीन वर्ग समाज में केवल थोड़े से धन से अपने को जीवित मात्र रखता है। इस पद्धति का उद्देश्य लाभ प्राप्त करना होता है; अतएव समाज के भौतिक तथा मानवीय साधन का बड़ा अंश बेकार हो जाता है। यह बर्बादी सामाजिक दृष्टि-कोण से बड़ी मँहगी पड़ती है। यही नहीं बल्कि धनिक वर्ग की विला-सिता की आवश्यकताओं की तृप्ति का पूर्ण प्रबन्ध इस पद्धति में होता है, क्योंकि उसमें लाभ की प्राप्ति है परन्तु दीनों की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता; जिससे उनकी आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं हो पाती। समय-समय पर अत्याधिक उत्पादन तथा घोर स्पर्धा के कारण माल इकट्ठा हो जाता है परन्तु उसका क्रय-विक्रय नहीं हो पाता और मन्दी की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। अजीब अवस्था में समाज यातनायें भुगतता है। लोग उन वस्तुओं को क्रय करना चाहते हैं परन्तु उन्हें क्रय करने के लिए दाम नहीं है। बेकारी की विकट यातना से लोग क्षुब्ध हो उठते हैं। इस पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज में एक निराशा का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

दूसरे रूस की साम्यवादी योजना, जर्मनी तथा इटली की फासिस्ट योजना को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में वृद्धि हुई तथा भौतिक शक्ति का बड़ा ही विकास और संवर्द्धन हुआ। रूस में जो अकिंचनता तथा दरिद्रता थी उसका बड़े अंश में निराकरण हुआ। इन देशों में योजना के फलस्वरूप एक उत्साह तथा शक्ति का प्रसार हुआ। इससे सब लोगों में योजना के प्रति विश्वास तथा निष्ठा उत्पन्न हुई।

तीसरे भीषण युद्धकालीन परिस्थिति में योरोप तथा अमेरिका के देशों ने योजना का सहारा लेकर उपभोग तथा उत्पादन के क्षेत्र में सराहनीय सफलता प्राप्त की। सैनिक तथा साधारण जन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य द्वारा संचालित योजना ने पूर्णतया कर ली। राज्य का इन सब साधनों पर नियंत्रण रहा। ऐसी विषम परिस्थिति को पार करने में योजना सहायक सिद्ध हुई। अतएव इसके प्रति संसार में पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो गया और योजनाओं का सृजन होने लगा।

आर्थिक योजना का ध्येय—योजनाओं की रचना हुई। इन योजनाओंका ध्येय आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक है। योजनाओं का विश्लेषण करने पर उनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न दृष्टिगत होते हैं।

(१) सुरक्षा तथा राजनैतिक शक्ति शान्ति चाहनेवाले देशों में सुरक्षा की दृष्टि से परन्तु लड़ाकू देशों में दूसरे देशों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए योजनाओं का संचालन किया जाता है।

(२) स्वयं पूर्णता तथा अविकसित आर्थिक व्यवस्था का विकास—जिन देशों में नवीन वैज्ञानिक प्रयोग उत्पादन के क्षेत्र में नहीं किए गए हैं वे देश अन्य देशों की बराबरी के लिए नवीन यंत्रों का प्रयोग करते हैं और उत्पादन का विकास करते हैं। यदि वे भोजन, कच्चे माल आदि में दूसरे देशों पर निर्भर रहते हैं तो उसे भी अपने देश में उत्पादित करने की योजना बनाते हैं।

(३) पूर्ण उद्यम—इसके कई अर्थ होते हैं। समाज में कार्य तथा अवकाश का उचित संतुलन स्थापित करना। उतने समय का कार्य जिससे जीविका चलाने में कोई बाधा न हो। साथ ही साथ उतना अवकाश भी जिससे अपना सांस्कृतिक विकास भी व्यक्ति कर सके। पूर्ण उद्यम के यह भी तात्पर्य हैं कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुकूल तथा उचित वातावरण में कार्य पा सके, जिससे उसका जीवन स्तर ऊँचा उठ सके और उसका व्यक्तित्वपूर्ण विकसित हो सके। इस पूर्ण उद्यम द्वारा प्रत्येक राष्ट्र न केवल अपनी सम्पत्ति की वृद्धि कर सकता है बल्कि वहाँ का नागरिक अपने आत्म सम्मान को भी ऊँचा उठाता है और समाज का एक उपयोगी सदस्य बनने में समर्थ होता है। पूर्ण उद्यम की समस्या आज के युग में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसकी अवहेलना या इसके प्रति उदासीनता कोई राष्ट्र या समाज नहीं दिखला सकता। बेकारी या अर्ध बेकारी समाज को जर्जर तथा निर्बल बनाती है क्योंकि मनुष्य के सम्मान को यह धक्का देती है। चाणक्य के शब्दों में "यस्मिन देशे न सन्मानो न वृत्ति न च बान्धवाः न च विद्यागमो ऽप्यस्ति वासं तत्र न कारयेत"। बहुत से विचारकों ने बेकारी को मृत्यु से भयंकर पाप बताया है। यह एक प्रकार की आत्म हत्या है। सब पापों का मूल है। गेलेन ने कहा है कि काम प्राकृतिक वैद्य है और मानव सुख के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए इस समस्या का निराकरण प्रत्येक समाज और राष्ट्र करना चाहता है। इसके लिए अनेकों योजनायें आज संसार में बनाई जाती हैं। जनसंख्या वृद्धि तथा मशीनों का आविष्कार इस समस्या को जटिल बनाता जा रहा है।

(४) आर्थिक सुरक्षा—प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार का पोषण चाहता है। उसके लिए उचित भौतिक साधन की उपलब्धता चाहिए। अतएव प्रत्येक को काम मिले तथा काम में स्थायित्व हो और काम का पुरस्कार उसे वर्तमान तथा भविष्य के जीवन को पोषक तत्व प्रदान कर

सके। दैहिक, दैविक, भौतिक आपत्तियों में भी उसे सुरक्षा मिल सके। इसीलिए इसके अन्तर्गत जो योजनायें चलाई जाती हैं उनमें पूर्ण उद्यम, उचित मजदूरी तथा अन्य उचित पुरस्कार की योजना बनाई जाती है। कल्याणकारी राज्य भी इस ओर तीव्रता से बढ़ रहे हैं। पूँजीवादी तथा फासिस्टवादी राज्य सब प्रकार के पुरस्कार का उचित स्थान निश्चित करते हैं। जीवन मान को ऊँचा उठाना आज अनेकों योजनाओं का ध्येय है।

(५) सामाजिक सुरक्षा—आज जागरण का युग है। सामाजिक असमानता, जिसमें अमीरों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान तथा गरीबों की आवश्यक आवश्यकताओं की तनिक भी परवाह नहीं की जाती, सबको खलती है। इससे समता के युग को धक्का पहुँचता है। अमीर और गरीब सबकी आवश्यकताओं में ये भेद न हों और न उनके कारण समाज में खलने वाली विषमता ही हो। साथ ही साथ आज न्याय की भावना का भी प्रसार हो रहा है, क्योंकि मानव मूल्य की व्यापकता पर भी ध्यान आकृष्ट होने लगा है। जन जागरण, शिक्षा प्रसार, साम्यवादी भावना, तथा मानव मूल्य की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप न्याय की भावना भी प्रबल होती जा रही है। मनुष्य में दूसरे असहाय निर्बल मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य की चेतना जाग रही है। सबको बराबर आर्थिक साधन मिलना चाहिए और सबको जीवित रहने का अधिकार है। इतनी विषमता नहीं रहनी चाहिए यद्यपि थोड़ी सी विषमता का रहना स्वाभाविक ही है। इसी-लिए रूस ने भी 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार के स्थान पर, प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार, का नारा लगाना आरंभ कर दिया है। इस नयी भावना की रक्षा के लिए सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक न्याय की स्थापना का प्रयास प्रत्येक राज्य अपने दृष्टिकोण से करना चाहता है और उसी के अनुकूल योजनाओं का सृजन करता है।

(६) युद्धोपरान्त निर्माण—विध्वंसकारी महासमर के कारण संसार के देश त्रस्त हो उठते हैं। उनका सारा जीवन—आर्थिक, राजनैतिक तथा नैतिक, अव्यवस्थित हो जाता है। उसके निर्माण के लिए तथा सुधार के लिए शान्तिमय जीवन चलाना इन योजनाओं का ध्येय होता है।

इन्हीं उद्देश्यों से योजनाओं का संचालन किया जाता है। इन योजनाओं के पीछे कोई एक ही ध्येय नहीं होता बल्कि अनेकों उद्देश्यों का मिश्रण होता है। एक समाज की कल्पना की जाती है जिसमें समाज की सम्पत्ति बढ़े, प्रत्येक व्यक्ति का जीवन मान ऊँचा हो। सबको काम मिले। सबके व्यक्तित्व को विकसित किया जा सके जिससे देश में स्वस्थ नागरिक बन सकें। व्यक्ति के विकास के साथ-साथ राष्ट्र का विकास हो। राज्य योजना की सफलता के लिए सब प्रयास करता है और उसके लिए अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग करता है।

योजना का संचालन

योजना का प्रारम्भ और अन्त पाँच परिस्थितियों से पार होकर परिपक्वता को प्राप्त करता है। पहले राष्ट्रीय लोकसभा कुछ उद्देश्य और लक्ष्य का निर्धारण करती है और उसकी प्राप्ति के लिए कार्य प्रणाली का स्वरूप निश्चित करती है। साधारण नीति के तय हो जाने के उपरान्त दूसरा कदम उठाया जाता है और योजना की रूपरेखा बनाने के लिए एक केन्द्रीय योजना आयोग की नियुक्ति होती है। यह आयोग अर्थशास्त्रियों, आँकड़ा शास्त्रियों, वैज्ञानिकों, आदि की सहायता से कुछ योजना

का आधार और रूप खड़ा करता है। उद्देश्य को ध्यान में रखकर सब क्षेत्र को टटोला जाता है। प्रादेशिक, विभागीय, व्यावसायिक सब प्रकार की योजनायें इस आयोग के पास भेजी जाती हैं और सबको यह योजना में संकलित करता है। केन्द्रिय योजना में इन योजनाओं के आधार पर भी संशोधन और सम्वर्धन किया जाता है। तीसरा कदम योजना तैयार हो जाने पर इसकी स्वीकृति का होता है। इसे राष्ट्रीय सरकार या पहले से निर्मित सर्वोच्च आर्थिक समिति स्वीकार करती है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन तथा संशोधन भी यह कर सकती है। चौथा कदम योजना को कार्यान्वित करने का उठाया जाता है। कार्यान्वित करने का कार्य केन्द्रिय शासन को सौंपा जाता है। यह केन्द्रिय शासन अपनी प्रान्तीय, प्रादेशिक और स्थानीय शासन शाखाओं द्वारा इसे कार्यान्वित करता है। पाँचवाँ कदम अन्तिम कदम होता है। इसमें योजना का निरीक्षण तथा पर्य-वेक्षण होता है। जो समस्यायें तथा अड़चनें उत्पन्न होती हैं, उनका निराकरण किया जाता है और उनके अनुभव के आधार पर भविष्य में सतर्कता से काम लिया जाता है। योजना को परिवर्तित भी किया जाता है। सारे सिद्धान्त और दर्शन कार्यान्वित होने की परिस्थिति में ही पूर्णतया परखे जा सकते हैं। इसकी देख-रेख तथा इस पर नियंत्रण एक केन्द्रिय योजना आयोग द्वारा किया जाता है। स्थानीय शाखायें इस पर पूर्ण दृष्टि रखती हैं। यह आयोग योजना की सुगम सफलता के लिए अनेकों संस्थाओं का निर्माण कर सकता है और सबकी सहायता ले सकता है।

योजना और प्रतिबन्ध

योजना की सफलता के लिए प्रतिबन्ध अत्यन्त आवश्यक है। यह नियंत्रण कई प्रकार से तथा कई स्थलों से लगाया जाता है। सारी कार्य-प्रणाली नियंत्रण से जकड़ी रहती है। पहला नियंत्रण उत्पादन पर होता है। कौन वस्तुयें और किस मात्रा में उत्पादित की जायँ इसका निश्चय करना पड़ता है। दूसरे उत्पादित वस्तुओं का क्रय-विक्रय किस दर पर किया जाय? तीसरे जनता किस कार्य तथा पेशे को अधिक अपनाये, चौथे लोगों की बचत की कितनी मात्रा विनियोग में जाये और कहाँ उसका विनियोग किया जाय; पाँचवें समाज के व्यक्ति कितनी मात्रा में तथा कौन वस्तु का उपभोग करें और कितना बचायें तथा किस परिमाण में बचायें आदि समस्याओं पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाता है।

ये प्रतिबन्ध दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध जो राज्य द्वारा लगाए जाते हैं तथा आयोजित आर्थिक व्यवस्था में पूर्णतया इनका प्रयोग किया जाता है। द्वितीय परोक्ष प्रतिबन्ध जो बाजार-यन्त्र द्वारा लगाया जाता है। इसमें दाम को ऊँचा और नीचा करके योजना संचालक अपनी निर्धारित नीति को सफल बनाते हैं। इसका प्रयोग पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में अधिकतर किया जाता है।

ये प्रतिबन्ध अपने दोनों स्वरूपों में प्रत्येक आर्थिक क्रिया का नियमन और नियन्त्रण करते हैं। प्रारंभ उत्पादन से होता है। उत्पादन का निश्चय विशेष निपुण समिति द्वारा कर दिया जाता है। यह निश्चय योजना के उद्देश्य के अनुकूल किया जाता है। युद्धोपरान्त राष्ट्र के निर्माण या पूँजी के सृजन या कच्चे माल की प्राप्ति या खाद्य पदार्थ की प्राप्ति या जीवनमान ऊँचा करना आदि जो भी उद्देश्य हो उसी के प्रकाश में

उत्पादन का स्वरूप निश्चित किया जाता है। उत्पादन प्रक्रिया में पाँच साधन लगते हैं। अतएव उनका पूर्णतया नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। सब क्षेत्रों को प्रतिबन्ध से जकड़ दिया जाता है या प्रतिबन्ध का भय उत्पन्न कर दिया जाता है तभी योजना अपनी गति से अपेक्षित उद्देश्य की प्राप्ति कर सकती है। योजना के संचालक कुछ वस्तुओं का उपभोग बढ़ाना चाहते हैं और कुछ वस्तुओं का उपभोग कम करना चाहते हैं। इसके लिए लोगों को बाध्य किया जाता है कि वे उसी प्रकार व्यवहार करें जिस प्रकार का व्यवहार योजना संचालक चाहते हैं। जब यह चाहते हैं कि लोग बचत अधिक करें तो कतिपय निम्न उपाय से काम लेते हैं। उससे लोगों के व्यय में कमी आती है और बचत स्वभावतः होने लगती है। उपभोग की वस्तुओं के लिए लोगों में प्रतिस्पर्धा न हो जिससे दाम इतना अधिक हो जाय कि लोग क्रय न कर सकें। इसे रोकने के लिए उपभोग की मात्रा तथा उसका दाम निश्चित और नियंत्रित कर दिया जाता है। अथवा जब धनिकों की आवश्यकताओं की वस्तुओं का अधिक उत्पादन होता है और अधिक संख्या में पाये जाने वाले दीनों की आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन कम होता है तो इस परिस्थिति में धनिकों की आवश्यकताओं और उपभोग पर नियंत्रण कर दिया जाता है अथवा स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद सिद्ध होने वाली वस्तुओं जैसे गाँजा, भाँग, शराब आदि के उपभोग को नियंत्रित किया जाता है या बिल्कुल समाप्त कर दिया जाता है। इसके दाम को ऊँचा करके इसके उपभोग की मात्रा निश्चित करके या पूर्णतया इसे बन्द करके अधिकारी वर्ग इसके उपभोग को नियंत्रित करते हैं।

चूँकि उत्पादन तथा उपभोग पर नियंत्रण इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन में लगी पूँजी या विनियोग पर नियंत्रण हो इसलिए विनियोग पर नियंत्रण योजना का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। योजना संचालकों द्वारा यह निश्चित होता है कि किस उद्योग तथा कम्पनी में कितने उत्पा-

दन के लिए कितना विनियोग किया जाय। योजना का प्रयास सदैव यही रहता है कि विनियोग को गई पूँजी तथा आर्थिक साधनों का उचित तथा पूर्ण प्रयोग करके अधिकतम कार्य क्षमता प्राप्त की जाय। विनियोग और कम्पनी पर नियंत्रण करके ही हानिकर प्रतिस्पर्धा को समाप्त किया जा सकता है। इसी के साथ-साथ यह स्वाभाविक हो जाता है कि लोगों के पेशे पर भी नियंत्रण हो। जैसा उत्पादन हम चाहते हैं उसी प्रकार के कार्य करने वाले भी समाज में उपलब्ध हों तभी हमारी उत्पादन प्रणाली आगे बढ़ेगी। यहाँ चेतन साधन पर नियंत्रण करना होता है अतएव परोक्ष नियंत्रण का ही प्रयोग पूर्णतया किया जाता है। साधारण-तया जिस काम में लोगों को अधिक से अधिक लगाना है उस काम का पुरस्कार अन्य कार्यों के पुरस्कार से ऊँचा कर दिया जाता है, स्वभावतः लोग उस पेशे को अपनाने लगते हैं क्योंकि उसका पुरस्कार अधिक होता है। परन्तु युद्ध कालीन परिस्थिति या दासता की परिस्थिति में प्रत्यक्ष नियंत्रण काम में लाया जाता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य किया जाता है कि वह उस कार्य को करे जिसे योजना के संचालक कराना चाहते हैं।

आयोजित आर्थिक व्यवस्था में संतुलन तथा स्थायित्व उत्पन्न हो इसके लिए उत्पादन तथा उपभोग की वस्तुओं में, मजदूरी, ब्याज, लगान तथा लाभ में संतुलन लाना आवश्यक है। संतुलन के दृष्टिकोण से ही इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि भविष्य के लिये कितना उत्पादन किया जाय और कितना वर्तमान के लिए। वर्तमान के उपभोग की वस्तुओं में विलासिता तथा अत्यन्त आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं की उत्पत्ति, मात्रा तथा प्रकार का भी निश्चय होना चाहिए। इससे सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था सुरक्षित रहेगी और उसे स्थायित्व प्राप्त होगा। सामयिक उपद्रव जो देश की आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करके देश को संकट में डाल देते हैं निर्मूल हो जायेंगे। इस समीक्षा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि आर्थिक व्यवस्था को संतुलित रखने के लिए समाज के

प्रत्येक व्यक्ति की आय में एक उचित समता अपेक्षित है। आयोि
आर्थिक व्यवस्था में लोगों की व्यक्तिगत आय तथा बचत पर
पूर्ण नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

यह नियन्त्रण अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक हो जाता
पूँजीवादी योजना के अन्तर्गत भी इसी नियन्त्रण के द्वारा योजना
पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकती है। पूँजीवादी योजना में दाम, ब्या
मजदूरी और लाभ को ऊँचा-नीचा करके प्रत्येक क्षेत्र को नियन्त्रित क
हैं। यदि किसी वस्तु की मात्रा अधिक है और उसका उपभोग अ
कराना है तो उसका दाम कम कर दिया जाता है और यदि किसी व
की मात्रा कम है और उसका उपभोग कम कराना है तो दाम ऊँ
कर दिया जाता है। किस वस्तु का किस मात्रा में उत्पादन किया ज
इसका निश्चय भी मूल्य द्वारा ही किया जाता है। लोग किस पेशे
अधिक अपनायेंगे, इसका निर्णय उस पेशे का पुरस्कार करता है
कितनी बचत की जाय जिससे भविष्य के उत्पादन के लिए पूँजी मि
सके इसके लिए ब्याज की दर बढ़ा देने पर अधिक बचत तथा विनियो
होने लगेगा। ब्याज की दर कम करने पर इसके विपरीत प्रभाव पड़े
क्योंकि इससे भविष्य के लिए धन इकट्ठा करने की प्रवृत्ति कम
जायगी और लोग वर्तमान उपभोग पर अधिक व्यय करेंगे जिस
परिणामस्वरूप कम बचत तथा विनियोग होगा।

योजना तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था

यहीं पर यह प्रश्न उठता है कि क्या पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था और योजना दोनों एक साथ चल सकते हैं? इतने अधिक नियन्त्रण में पूँजीवादी योजना का अस्तित्व किस प्रकार बना रह सकता है? उसका तो मूलाधार ही नष्ट हो जायगा। यदि योजना का तात्पर्य पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण हो तो यह योजना न होकर नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था होगी क्योंकि इसमें व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रह सकता। यदि योजना का तात्पर्य आर्थिक क्रियाओं में राज्य का ऐसा हस्तक्षेप हो जिससे राज्य पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के दोष दूर कर सके तो इसे राजकीय योजना न कहकर राजकीय हस्तक्षेप कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार का राजकीय हस्तक्षेप पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में सर्वदा संभव है। इस प्रकार के हस्तक्षेप आज के कल्याण-जनतंत्रात्मक राज्य में हो रहे हैं। जब व्यापार एकाधिकारी प्रकृति का होता है तो राज्य मूल्य निर्धारण करके उपभोक्ताओं की रक्षा करता है। जिन आर्थिक क्षेत्रों में लाभ की कमी के कारण व्यक्तिगत साधनों का आकर्षण नहीं होता जैसे पाठशाला, औषधालय, जंगल आदि के कार्य वहाँ राज्य स्वयं आर्थिक कार्य करता है। मजदूर वर्ग जैसे आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियों की रक्षा के लिए राज्य कानून बनाता है और हस्तक्षेप करके उन्हें सब प्रकार की सुविधायें दिलाता है। रेल, तार, डाक, विद्युत इत्यादि सामाजिक उपयोगिता या सार्वजनिक उपयोगिता के कार्य जिन्हें सस्ते-से-सस्ते दर पर समाज को देना होता है, राज्य अपने हाथ में ले लेता है। जब उपभोक्ता को उत्पादक ठगना चाहते हैं और मिलावट तथा हानिप्रद अशुद्ध वस्तुओं का विक्रय करते हैं तो राज्य हस्तक्षेप करता है। मुद्रा तथा अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण इत्यादिक कार्य जो

राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से राज्य के लिए आवश्यक होते हैं उन्हें राज्य करता है। इन कार्यों के अतिरिक्त व्यक्तिगत व्यवसायों को भी राज्य अनेक प्रकार से सहायता प्रदान करता है। उन्हें व्यापार की सारी सुविधायें जैसे—नाप तौल, मुद्रा, आवागमन का साधन, न्याय सरकारी सहायता, औद्योगिक शिक्षा, अन्वेषण, व्यापार-संधि, आयात निर्यात कर इत्यादि राज्य प्रदान करता है। देश के औद्योगिक विकास उचित सम्पति वितरण और पूर्ण रोजगार के लिए सरकार का सहयोग अपेक्षित है। सरकार के सहयोग का अर्थ होता है सरकारी हस्तक्षेप यह हस्तक्षेप बढ़ते-बढ़ते अपनी चरमसीमा पर पहुँचकर व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति कर देता है। इस अवस्था में सब कार्य राज्य द्वारा ही संचालित होते हैं।

यदि योजना का तात्पर्य कुछ मूल तथा महत्वपूर्ण उद्योगों पर राज्य का नियंत्रण हो और अन्य साधारण उद्योगों को व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए छोड़ना हो तो इसका निश्चय करना कठिन होगा। इस अवस्था में राज्य साख, बैंकिंग इत्यादि पर अपना नियंत्रण रखता है। समस्या की कठिनाइयाँ कई प्रकार की हैं। पहले यह निश्चित करना ही कठिन है कि किसे हम मूलभूत महत्वपूर्ण उद्योग माने और किसे न माने। दूसरे यदि राज्य ने व्यक्तिगत क्षेत्र के विनियोग तथा साख पर कुछ ढीला नियंत्रण कर दिया तो व्यक्तिगत क्षेत्र राजकीय क्षेत्र को समाप्त कर देगा। इस अवस्था में राजकीय क्षेत्रों को पूँजी की कमी पड़ जायगी और व्यक्तिगत क्षेत्र द्वारा निर्मित वस्तुयें राजकीय क्षेत्र की निर्मित वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा करने लगेंगी इस प्रकार से व्यक्तिगत क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र को समाप्त कर देगा समस्या के समाधान के लिए राज्य को प्रत्येक व्यक्तिगत कम्पनी पर नियंत्रण तथा नियमन रखना पड़ेगा और इस प्रकार राज्य पूरे आर्थिक क्षेत्र पर अपना नियंत्रण करके ही मिश्रित आर्थिक व्यवस्था चला सकता है। यही कारण है कि लोग इस प्रकार की योजना का विरोध करते हैं

योजना-निर्माण का उद्देश्य सामाजिक दोषों का परिष्कार कर समाज को समृद्धि की ओर ले जाना है किन्तु इस नियंत्रण चक्र को देखकर लोगों को निराशा होती है। इसके विरोधियों का कहना है कि इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है और राज्य के हाथों में राजकीय शक्ति के अतिरिक्त आर्थिक शक्ति भी केन्द्रित हो जाती है, जिससे नागरिक स्वतंत्रता का अपहरण होता है। और यह योजना मँहगी पड़ती है। किन्तु भुखमरी, बेकारी, बीमारी और दरिद्रता इत्यादि से छुटकारा पाने में यदि यह योजना समर्थ हो सके तो इसे महँगी नहीं कहा जा सकता।

———

साम्यवादी तथा नाजीवादी योजना की कार्यप्रणाली

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि इन दोनों योजनाओं में एक सूक्ष्म भेद के अतिरिक्त जहाँ तक इनकी कार्यप्रणाली का रूप है, बहुत ही साम्य है।

उपभोग क्षेत्र—

उपभोग की वस्तुओं का वितरण कई प्रकार से किया जाता है। यदि उपभोक्ताओं की रुचि का ध्यान स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था की भाँति रखा गया तो दाम की कमी और अधिकता से माँग और पूर्ति के तराजू का प्रयोग किया जाता है। जिस वस्तु का जितनी मात्रा में उपभोग कराना अपेक्षित होता है उसी अनुपात में दाम स्तर को ऊँचा नीचा करते हैं,

जिससे उपभोक्ता अपनी रुचि तथा क्रय शक्ति के अनुसार उन वस्तुओं का उपभोग करते हैं। यह प्रक्रिया स्वतंत्र पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था जैसी होती है।

एक दूसरी पद्धति का भी प्रयोग किया जाता है जिसके अनुसार योजना संचालक दाम पद्धति समाप्त कर देते हैं। उपभोक्ताओं को विभिन्न वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा और दूकान का अनुमति पत्र दे दिया जाता है जिसे दिखा कर वे उसमें उल्लिखित वस्तुएँ प्राप्त कर लेते हैं। रूस ने १६२० ई० में इसे अपनाया था परन्तु इस पद्धति की व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण रूस ने आगे चलकर इसे छोड़ दिया और तीसरी पद्धति अपनाई।

इस तीसरी पद्धति के अन्तर्गत योजना संचालक एक सीधी सुधरी हुई दाम पद्धति अपनाते हैं। जो वस्तुएँ दूकानों पर मिलती हैं उनके दाम निश्चित कर दिये जाते हैं। इस निश्चित दाम पर उपभोक्ता अपनी अभिरुचि के अनुसार सामग्री क्रय करता है। सभी निश्चित उपभोग की वस्तुएँ यदि उपभोक्ता क्रय कर लेते हैं तब तो माँग और पूर्ति का सन्तुलन ठीक हो जाता है अन्यथा यदि दूकानों पर माल बिना बिका पड़ा रह जाता है तब ऐसा समझा जाता है कि दाम नीति उचित नहीं है। समस्या के समाधान के लिए संचालक दो उपाय प्रयोग में लाते हैं; या तो उन वस्तुओं के दाम कम कर दिये जाते हैं जिससे सस्ते होने के कारण वे बिक सकें या लोगों की मजदूरी बढ़ा देते हैं जिससे क्रय शक्ति बढ़ाने के कारण लोग उन्हें खरीद सकें। इस पद्धति में उपभोक्ता तथा अधिकारी दोनों की भावनाओं की रक्षा होती है और कार्य भी सरलतापूर्वक हो जाता है।

यदि अधिकारी किसी विशेष वस्तु का अधिक प्रयोग करना चाहते हैं तो अन्य वस्तुओं के साथ उस वस्तुविशेष की एक निश्चित मात्रा खरीदना अनिवार्य कर देते हैं। इससे सामान की खपत भी हो जाती है और अधिकारियों का मन्तव्य भी पूरा हो जाता है। ऐसी सभी वस्तुओं के

लिए अनुमति-पत्र पद्धति का प्रयोग किया जाता है जिनकी मात्रा न्यून और माँग सर्वव्यापी होती है। इससे सबको अभीप्सित वस्तु निश्चित मात्रा और उचित दाम में प्राप्त हो जाती है। यदि कोई विशिष्ट वस्तु किसी वर्ग विशेष को ही देनी होती है तब भी अधिकारी वर्ग अनुमति-पत्र-पद्धति का प्रयोग करते हैं।

उत्पादन क्षेत्र—

योजना संचालकों द्वारा इस बात का निश्चय किया जाता है कि किस वस्तु का किस मात्रा में उत्पादन किया जाय। इस कार्य के लिए अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ, समाज-विज्ञानवेत्ता, डाक्टर, वैज्ञानिक, इंजीनियर तथा अन्य निपुण व्यक्तियों की एक सलाहकार समिति होती है। देश की जलवायु, विभिन्न स्थानों की संस्कृति, चलन, पसन्दगी इत्यादि का ध्यान रखकर उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनसे सबकी आवश्यकता पूरी हो जाय और वे स्वास्थ्यकारी भी हों। उपभोक्ता की आय तथा रूचि का ध्यान रखने का प्रयत्न भी किया जाता है किन्तु यह सर्वदा संभव नहीं होता। अतएव अधिकारी एक साधारण मापदण्ड के अनुसार उत्पादन कराते हैं जिससे लोगों की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। भोजन, वस्त्र, मकान तथा अन्य प्रकार की आवश्यकताओं का किस मात्रा तथा प्रकार से तृप्ति की जाय कि लोग स्वस्थ्य रह सकें, इस बात का निर्धारण विशेष निपुण व्यक्तियों की राय से होता है। उपभोग की वस्तुओं के अतिरिक्त उत्पादक वस्तुओं को भी निश्चित करना पड़ता है, जिससे भविष्य में उत्पादन को बढ़ाया जा सके। संचालक समिति स्वतः इसको निश्चित करती है कि किस प्रकार के उत्पादक सामान कितनी मात्रा में उत्पादित किये जायँ जिससे भविष्य तथा वर्तमान की उत्पादन पद्धति में किसी प्रकार का असन्तुलन न आने पाये।

उपभोग पर नियंत्रण के उपरान्त उत्पादन को नियन्त्रित करना आवश्यक है। इस नियन्त्रित उत्पादन को सुचारु रूप से चलाने के

लिए इसमें लगनेवाले साधनों का भी उचित स्थल पर उचित परिमाण में प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। निर्जीव साधन होने के कारण भूमि तथा पूँजी उत्पादन क्रिया में सरलतापूर्वक संलग्न कर दिये जाते हैं यद्यपि इनकी मात्रा तथा प्रयोग में सावधानी रखनी पड़ती है। सजीव साधन होने के कारण श्रम को उसकी इच्छा के बिना उत्पादन क्रिया में लगाना कठिन है। यह कार्य दाम पद्धति के द्वारा किया जाता है। उस प्रकार का कितना श्रम समाज में उपलब्ध है और जिस कार्य में लगाना है उस कार्य में कितनी कार्यक्षमता की आवश्यकता है, इन दोनों बातों का ध्यान रखकर श्रम का पुरस्कार अधिक या कम रख दिया जाता है और आवश्यकतानुसार श्रम की प्राप्ति हो जाती है। कम पुरस्कार पर भी कठिन से कठिन कार्य कराने के लिए अन्य तरीके भी प्रयोग में लाये जाते हैं। उनमें देश प्रेम की भावना जगाई जाती है। उन्हें श्रेष्ठता की पदवी दी जाती है जिससे श्रमिक कार्य करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। विशेष परिस्थिति में अनिवार्य रूप से राज्य श्रमिकों को किसी कार्यविशेष को करने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार उत्पादन क्रिया नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था में चलती है। उद्योगों को चलाने में राज्य का लक्ष्य लाभ प्राप्ति न होकर लोक कल्याण होता है। इसी कारण बहुत से ऐसे उद्योग जो लाभ प्राप्ति की दृष्टि से हानिकर होते हुए भी सर्वसाधारण की दृष्टि से हितकर होते हैं राज्य हानि सहकर भी चलाते हैं। नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य समाज-सेवा होता है।

आय का वितरण—

नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था में राज्य को विभिन्न स्रोतों से आय प्राप्त होती है। राष्ट्र के स्वामित्व के कुछ स्रोत होते हैं जैसे भूमि इत्यादि। पूँजी पर व्याज की प्राप्ति होती है क्योंकि प्रतिवर्ष पूँजी में वृद्धि होती रहती है। सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं तथा राजकीय उद्योगों से राज्य को आय प्राप्त होती है। राज्य श्रमिकों की आय पर भी कभी-कभी

कर लगाता है। साथ ही साथ श्रमिकों द्वारा राज्य की सम्पत्ति में निरन्तर वृद्धि की जाती है। ये सभी राज्य की आय प्राप्ति के द्वार हैं। इन्हीं स्रोतों से राज्य अपने बजट का निर्माण करता है। उसके सारे उत्पादक कार्य संचालित होते हैं। उत्पादन कार्य के सभी साधन राजकीय स्वामित्व में होते हैं। केवल श्रम इसका अपवाद है। श्रम जीवित साधन होने के नाते व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत रहता है।

राज्य को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी क्षेत्रों में कार्य करना पड़ता है। सब क्षेत्रों से जो आय प्राप्ति होती है वही उत्पादन प्रक्रिया में भाग लेनेवाले उपकरणों में वितरित कर दी जाती है। मशीनों और मकानों की मरम्मत, नवीनीकरण, घिसावट में व्यय किया जाता है। नवीन उद्योगों, याता-यात के साधनों और व्यापार को बढ़ाने के लिए सम्पत्ति का विनियोग करना पड़ता है। सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं, शासन संचालन, राष्ट्रीय सुरक्षा, वैज्ञानिक खोजों इत्यादि पर राज्य को व्यय करना पड़ता है। इस व्यय के उपरान्त देश के श्रमिकों के बीच सम्पत्ति का वितरण किया जाता है। श्रमिकों का अपनी निजी विशेषताओं के कारण विशिष्ट महत्व होता है। उनकी मजदूरी या पुरस्कार निर्धारण कई प्रकार से किया जाता है, सारी उत्पादन प्रणाली का उद्देश्य मजदूरों को सुखी तथा सम्पन्न बनाना होता है। अतएव इस सजीव उत्पत्ति के साधन का पुरस्कार कई बातों को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता है। मजदूरी का स्तर तथा मजदूरी का मापदण्ड निश्चित करना प्रथम कर्तव्य होता है। मजदूरी का स्तर का निश्चय इस बात पर निर्भर रहता है कि मजदूरों पर व्यय करने के लिए देश में कितना कोष, जिसे मजदूरी कोष कहते हैं, उपलब्ध है। यही मजदूरी कोष मजदूरी का मापदण्ड निर्धारित करता है। मजदूरी कोष का निश्चय एक महत्वपूर्ण निश्चय होता है। उत्पादित अंशों में से मजदूरों के भविष्य के जीवन मान को ऊँचा करने का प्रबन्ध भी अधिकारियों को

करना पड़ता है। मजदूरी कोष देश में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के लगभग बराबर होता है। अधिकारी उतना ही मजदूरी कोष निर्धारित करते हैं जितने से समाज के लोग उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं का पूर्ण उपभोग कर सकें। यदि उत्पादित वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना होता है तो उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन कम होना स्वाभाविक हो जायगा और उनका उपभोग भी कम हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में मजदूरी कोष कम हो जाता है। इस समस्या के समाधान के दो ही रूप हैं या तो मजदूरी कम कर दी जाय या उपभोग की वस्तुओं का मूल्यस्तर ऊँचा कर दिया जाय।

मजदूरी का माप दण्ड निश्चित करने के लिए कई सिद्धान्त काम में लाये जाते हैं। प्रथम, आर्थिक समता का सिद्धान्त होता है जिसके अनुसार सबको बराबर मजदूरी दी जाती है। द्वितीय, परिवार की साधारण आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर मजदूरी का निश्चय किया जाता है। तृतीय, श्रमिक की कार्यक्षमता को ध्यान में रखकर मजदूरी का निर्धारण होता है। चतुर्थ, किसी विशेष कार्य के लिए कितनी संख्या में मजदूर उपलब्ध हैं और कितनों की आवश्यकता है इसके संतुलन से मजदूरी का निर्धारण होता है। यदि मजदूर आवश्यकता से अधिक उपलब्ध हैं तो कम मजदूरी दी जाती है और यदि कम हैं तो अधिक मजदूरी दी जाती है। पंचम, कार्य के उत्तरदायित्व और महत्त्व द्वारा मजदूरी का निश्चय होता है। षष्ठम्, कहीं-कहीं विशेष जाति राष्ट्र के लोगों को जातीयता या राष्ट्रीयता के कारण अधिक पुरस्कार दिया जाता है। भारत में अंग्रेजी राज्य के समय अंग्रेजों को, जर्मनी में जर्मनों को अन्य लोगों से अधिक पुरस्कार दिया जाता था। सप्तम, प्रादेशिक तथा भौगोलिक भिन्नता के कारण कहीं अधिक पुरस्कार मिलता है तो कहीं कम। ऐसी अवस्था में देश को विभिन्न क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है और उस क्षेत्र की महँगी सस्ती तथा अन्य प्रकार की परिस्थितियों को

ध्यान में रखकर उस क्षेत्र में कार्य करने वालों को उस प्रकार का पुरस्कार दिया जाता है। इस सिद्धान्त का भी पुरस्कार निर्धारण में विशेष स्थान है।

ऊपर की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न देशों में अपनायी गयी हैं। रूस में पहले आर्थिक समता का सिद्धान्त अपनाया गया था किन्तु व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण आजकल कार्य क्षमता तथा उपलब्धता का सिद्धान्त अपनाया जा रहा है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार कार्य करना पड़ता है और उसे कार्यानुसार पुरस्कार दिया जाता है। जर्मनी में जातीयता तथा राष्ट्रीयता का भेद किया गया था। एक ही कार्य के लिए जर्मनों को यहूदियों से अधिक पुरस्कार दिया जाता था। इटली में उत्तरदायित्व के साथ, वंश तथा अधिकार भी पुरस्कार निश्चित करने में योग देते थे। अन्य देशों में बड़े परिवार वालों को छोटे परिवार वालों की अपेक्षा अधिक पुरस्कार दिया जाता है। पारिवारिक भत्ता, बच्चों का भत्ता, बुढ़ापे की पेंशन इत्यादि कई प्रकार के विचार हैं जो पुरस्कार का निर्धारण करते हैं।

मजदूर संगठनों के महत्व का विश्लेषण करना भी आवश्यक है। योजना संचालकों की ओर से इस प्रकार मजदूरी निश्चित करने की नीति निर्धारित की जाती है। श्रमिकों में भी उसकी प्रक्रिया होती है इसलिए उनकी नीति का विश्लेषण भी आवश्यक है। आयोजित आर्थिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि मजदूर संचालकों के कथनानुसार ही कार्य करें। संचालक इस बात का सतत प्रयत्न करते हैं कि मजदूर वर्ग में किसी प्रकार का असंतोष न उत्पन्न हो और हड़ताल तथा बहिष्कार आदि की सम्भावना न रहे। संचालक मजदूरों का अधिकतम सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं। संचालक मजदूर संघ के प्रतिनिधियों से समय-समय पर मिलते रहते हैं और मजदूरों की कार्य करने की विधि, अवस्था, पुरस्कार, बीमा, सुरक्षा तथा मनोवृत्ति आदि पर विचार विमर्श किया

करते हैं और मजदूर वर्ग भी सारी परिस्थिति से अवगत होते रहते हैं मजदूर बड़े-बड़े कार्यों को कार्यान्वित करने में उत्साह से सहयोग प्रदान करता है। उत्पादन क्रिया में संचालकों तथा मजदूरों का सहयोगी व्यवहार बना रहता है और संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती।

विनियोग—

सब प्रकार के उत्पादन कार्य के लिए पूँजी की अत्यन्त आवश्यकता होती है। यह पूँजी दो प्रकार से एकत्रित की जाती है। प्रथम, संचालित उद्योगों द्वारा कुछ बचत की जाती है और इस प्रकार से सामाजिक उद्योगों तथा कार्यों से प्राप्त बचत का प्रयोग भविष्य में उद्योगों के संचालन और विकास में किया जाता है। द्वितीय, व्यक्ति की आय से भी धन की प्राप्ति की जाती है और उसके विनियोग से उत्पादन कार्य विकसित किये जाते हैं। व्यक्तियों को कुछ ब्याज का आश्वासन दिया जाता है या उन्हें सवेतन अवकाश अथवा अन्य प्रकार की सुविधाओं की लालच दी जाती है। कभी-कभी राष्ट्र प्रेम के नाम पर जनता को उत्साहित किया जाता है कि वह अपनी आय का अधिक से अधिक भाग बचाकर विनियोग कराने में सहायक हो जिससे देश की सम्पत्ति में वृद्धि और औद्योगिक विकास सम्भव हो सके। यदि इस प्रकार से समुचित धन एकत्रित नहीं हो पाता तो राज्य बैंक द्वारा द्रव्य निर्मित कर लेता है और विनियोग के कार्य को आगे बढ़ाता है। ऐसे बैंक राज्य के आधीन होते हैं और इनका कार्य लाभ तथा धन पैदा करना न होकर उत्पादन कार्य को साधन प्रदान करना होता है। साथ ही साथ सारी योजना के विभिन्न क्षेत्र अपने निश्चित लक्ष्य तथा कार्यक्रम पर सही-सही चल रहे हैं या नहीं इसकी जाँच-पड़ताल करना तथा उन्हें ठीक मार्ग पर लाने के लिए चेतावनी देना भी इन बैंकों का कार्य होता है। जो ऋण प्राप्त किये जाते हैं उनका उद्देश्य लाभ न होकर सामाजिक हित तथा उत्पादन होता है। पूरी व्यवस्था का लक्ष्य द्रव्य प्राप्ति या लाभ प्राप्ति न होकर

मानव कल्याण होता है। इस कार्य का पूर्ण मापदण्ड यही होता है कि समाज का इसके द्वारा कितना अधिक हित सम्भव होता है। सामाजिक हित ही इनके कार्य का केन्द्र-विन्दु होता है।

योजना कार्यान्वित करने की प्रक्रिया

योजना की पूर्ण रूप रेखा तैयार करने से लेकर उसे कार्यरूप में परिणित करने तक की कई अवस्थायें होती हैं। किसी देश की सरकार जब किसी योजना को चलाना चाहती है तो सर्वप्रथम उसके लक्ष्य और सामान्य नीति का निर्धारण करती है। योजना की कार्यविधि पर प्रकाश डाला जाता है। दूसरा कदम यह होता है कि विशेषज्ञों की एक समिति बना दी जाती है। इसमें अर्थशास्त्री, राजशास्त्री, वैज्ञानिक, आंकड़ाशास्त्री, डाक्टर, इंजीनियर, समाज सुधारक, प्रबन्धक इत्यादि होते हैं जो सब पहलुओं को समक्ष रखकर योजना की रूपरेखा बनाते हैं। उत्पादन मात्रा, निर्दिष्ट उद्देश्य, साधन एवं सम्पत्ति की मात्रा, दाम, विभिन्न उत्पत्ति क्षेत्र आदि सभी बातों का चित्र यह समिति उपस्थित करती है। स्थानीय, विभागीय और प्रादेशिक योजनायें भी तैयार की जाती हैं और योजना समिति के परीक्षण हेतु अर्पित की जाती हैं। सब प्रकार की परिस्थितियों से अवगत होकर योजना समिति योजना का अन्तिम रूप निश्चित करती है। इसके पश्चात् यह योजना राष्ट्रीय सरकार द्वारा एक विशेष समिति के समक्ष उपस्थित की जाती है। इसकी स्वीकृति प्राप्त होने के उपरान्त

योजना के चलाने का कार्य प्रारम्भ होता है। केन्द्रीय संचालक समिति इस योजना को अपनी सहायक प्रादेशिक तथा स्थानीय समितियों की सहायता से कार्यान्वित करती है। अन्तिम कदम यह होता है कि योजना जब कार्यरूप में परिणित हो जाती है तो वास्तविक बाधाओं और आवश्यकताओं का पता चलता है। इन व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर योजना को सुधारा जाता है और बाधाओं को दूर किया जाता है जिससे योजना निश्चित लक्ष्य प्राप्त कर सके। यह केन्द्रीय संचालक समिति स्वयं या किसी अन्य संस्था या समिति द्वारा योजना की प्रगति की देख-रेख करती है।

योजना की सफलता की अवस्थायें

योजना बनाना सरल है परन्तु उसे कार्यान्वित करके सफलता प्राप्त करना कठिन है। इसकी सफलता के लिए कुछ शर्तों की पूर्ति आवश्यक है। प्रथम, योजना समग्र दृष्टि से पूर्ण हो। आर्थिक, प्राकृतिक साधन अधिकतम मात्रा में उपलब्ध हों। उनका अन्वेषण, आँकड़ा ठीक तथ्यों पर आधारित हो। हिसाब-किताब ठीक-ठीक अनुमानित हो। इन साधनों की प्राथमिकता का भी निर्णय ठीक-ठीक होना चाहिए। दूसरे योजना का लक्ष्य तथा उद्देश्य पूर्ण स्पष्ट हो। यह लक्ष्य सार्वजनिक हित के सभी पक्षों से ओत-प्रोत होना चाहिए। इसमें किसी दलगत, संकीर्ण राजनैतिक तथा वर्गगत भावनाओं की गंध न हो, नहीं तो राजनैतिक दलों
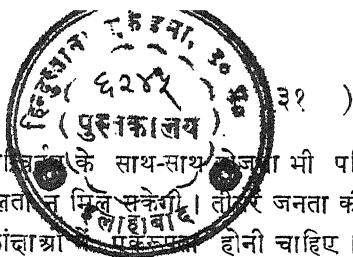
के परिवर्तन के साथ-साथ योजना भी परिवर्तित होती चलेगी और इसे सफलता न मिल सकेगी। तीसरे जनता की आवश्यकताओं, लक्ष्यों तथा आकांक्षाओं में एकरूपता होनी चाहिए। जनता समझदार हो। इससे योजना के संचालकों को सरलता होती है। कितनी और किस प्रकार की उपभोग और उत्पादन की वस्तुओं का निर्माण किया जाय जिससे समाज की आवश्यकता पूर्ण हो सके। इसमें उपभोक्ता की पसन्दगी की भी रक्षा होती है तथा सारा उत्पादन कार्य ठीक-ठीक अनुमानित ढंग पर चलता है। सारे प्रतिबंध भी ढीले नहीं पड़ते क्योंकि जिन वैज्ञानिक पद्धतियों से हम अनुमान लगाते हैं वे पूर्णतया ठीक उतरते हैं। असंख्य तथा विविध आवश्यकतायें किसी प्रकार योजना में बाधक नहीं होतीं। माँग-पूर्ति का अनुमान सही उतरता है।

चौथे जनता का सहयोग पूर्णरूप से मिलना चाहिए। जब जनता के विचारों में एकरूपता होगी और उसकी पसन्दगी की रक्षा होगी तो यह स्वाभाविक ही है कि जनता योजना में पूर्ण सहयोग देगी। जनता इतनी शिक्षित हो कि योजना को अपनी योजना समझे। उसके लिए त्याग करने को उद्यत रहे। सब प्रकार के प्रतिबन्ध तथा आदेश मानने को तैयार रहे। इसके लिए प्रचार, साहित्य तथा उपदेश से जनता का मानस तैयार करना पड़ता है। इससे इनके विचार उन्नतिशील तथा समझ की स्थिति में बदल जाते हैं। वर्तमान तथा भविष्य, स्वार्थ तथा परमार्थ की भावनाओं का पूर्ण ज्ञान होता है। जनता के पूर्ण सहयोग के बिना योजना का सफल होना कठिन है। इसलिए यह आवश्यक है कि योजना के प्रत्येक पहलू तथा प्रभाव से जनता परिचित हो। पाँचवे योजना के संचालक परमनिपुण हों। उनमें वैज्ञानिक ज्ञान, यान्त्रिक निपुणता, जनमानस पहिचानने व बदलने की शक्ति, शिक्षा, ईमानदारी, उत्तरदायित्व, प्रबन्धात्मक कुशलता के सिवाय अपने को कार्य के लिए अर्पित कर देने की सेवा-भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। बिना

उसका प्रभाव जीवन के सभी पहलुओं पर पड़ा। आर्थिक जीवन भी प्रभावित हुआ परन्तु आर्थिक ढाँचे का बुनियादी स्वरूप बना ही रहा, यद्यपि अन्य सामाजिक जीवन के पहलू बहुत कुछ परिवर्तित हुये। ये धार्मिक विचार आगे चलकर कुछ विवेकी पुरुषों के ही आचार मात्र रह गये। साधारण लोग उससे दूर हो गये। इसलिए वे विचार शक्तिहीन हो गये। ये विचार अपनी सच्ची आत्मीयता खोकर खोखले बन गये। एक नारे के रूप में जातीयता के पोषक बने। साथ ही साथ समाज को हिंसा तथा शोषण की ओर ले गये। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का, एक वर्ग दूसरे वर्ग का और एक देश दूसरे देश का शोषण करने लगा। यहीं से हिंसा और असत्य का उग्र रूप बढ़ा। आर्थिक जीवन के विकास की ओर दृष्टिपात करने पर दास प्रथा का स्वरूप सामने आता है। यहाँ हम मानव के श्रम का अर्थात् शरीर का शोषण पाते हैं, साथ ही साथ आत्मा का भी शोषण पाते हैं। मानव के शरीर तथा आत्मा दोनों का शोषण प्रारम्भ होता है। दोनों के शोषण से मुक्ति पाना मानव का लक्ष्य है। सहयोगिता के आधार पर जीवन का साधन प्राप्त करके स्वच्छन्दता पूर्वक जीवन चलाना मानव ने प्रारम्भ करना चाहा। इसी बीच प्रतियोगिता ने संघर्ष को जन्म दिया। संघर्ष से क्लान्त होकर आत्म-रक्षा के लिए राजा की सृष्टि की गयी। राजा ने सैनिक बल से तथा सामन्तों की सहायता से समाज में शक्ति स्थापित करने का व्रत लिया। कालान्तर में रक्षक राजतंत्र शक्ति भक्षक बन गई। जन-स्वतंत्रता का पूर्ण अपहरण हो गया। इससे ऊब कर राकीसपीर, सेंट जस्ट आदि ने फ्रांस में विराट विस्फोट का आयोजन किया। राजतंत्र समाप्त हुआ। अब फ्रांस में पूँजीवाद तथा केन्द्रित लोकसत्ता की स्थापना हुई। प्रथम जनक्रान्ति से भी मानव मुक्त न हुआ। उसने प्रजातंत्र का रूप स्थापित किया। परन्तु उस पर भी नियंत्रण पूँजीवाद का हो गया। जेम्सवाट द्वारा वाष्पशक्ति का आविष्कार हुआ। इसने एक केन्द्रित यान्त्रिक

उत्पादन पद्धति को बढ़ावा दिया। पूँजीवाद के उग्र स्वरूप ने राजसत्ता पर अधिकार जमा लिया। अब राजसत्ता तथा आर्थिक सत्ता दोनों पर कुछ धनी पूँजीवादी लोगों का बोलबाला हुआ। मानव राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों स्वतंत्रता खो बैठा। मानव की इस विह्वलता का प्रथम विस्फोट रूसी क्रान्ति में हुआ। पूँजीवादी युग ने अपने अनुकूल साहित्य, कला, दर्शन तथा अन्य प्रकार के सांस्कृतिक ढाँचे का निर्माण कर लिया था परन्तु उन मूल्यों तथा दर्शनों में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। रूसी क्रान्ति आर्थिक क्रान्ति का संदेश देती है। इसके पीछे कार्लमार्क्स सरीखे विचारकों का दर्शन था। रूस में नई क्रान्ति का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। यही नहीं सामाजिक न्याय, सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक कल्याण का रूप लेकर सामाजिक नियंत्रण में विश्व के प्रत्येक अंचल में यह विचार पनप रहा है। रूस तथा चीन में इसका पूर्ण प्रयोग किया जा रहा है। यह परिणाम था, उस पूँजीवाद की नग्नविषमता, अत्यधिक समृद्धि के बीच अकिंचनता, बाहुल्य के बीच दरिद्रता, प्रासादों के बीच झोपड़ियाँ तथा स्वतंत्रता के बीच प्रतिबन्ध आदि दोषों का। लोकतंत्र का अस्थि-पञ्जर मात्र अवशिष्ट रह गया है। एक दूसरे को हड़प जाने के लिए दो विकराल युद्ध हुये और अणुबम ऐसे आविष्कार का नग्नचित्र सामने आता जा रहा है। विज्ञान की दासता मानव ने पूर्ण रूप से स्वीकार कर ली है। मानव समाज में निर्णय व्यक्ति की इच्छाओं, अभिलाषाओं या आवश्यकताओं के अनुसार नहीं अपितु भौतिक परिस्थितियों के अनुसार किये जा रहे हैं। इसीलिए मार्क्स ने कहा है कि मानव की सत्ता के होने न होने का निश्चय उसकी ज्ञानशक्ति नहीं करती, प्रत्युत उसकी सामाजिक सत्ता करती है। समस्त सामाजिक विकास का आधार उत्पादन, साधन और उनका स्वामित्व है। यह सामाजिक विकास कला, विज्ञान, संस्कृति, दर्शन तथा मानव चरित्र का निर्माण करता है। मार्क्स इसीलिए पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और राज्य को नष्ट करना चाहते थे। जिससे वर्ग विहीन

समाज में न्याय, समानता तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहे। इसीलिए हिंसात्मक पद्धति को अपनाना अच्छा माना गया, जिससे इस पद्धति का पूर्ण सर्वनाश हो सके। आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए मार्क्स पूर्णरूपेण उद्यत हुआ। उसका प्रयोग शोषणहीन, वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना के रूप में रूस में हो रहा है परन्तु प्रयोग इतना अधकचरा-सा प्रतीत हो रहा है कि मानव की स्वतंत्रता का लक्ष्य प्राप्त होना कठिन-सा प्रतीत हो रहा है। यह इसलिए कि राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाने के कारण व्यक्ति सब प्रकार की स्वतंत्रता खो बैठेगा।

गांधीजी अर्थशास्त्री थे—

इसी प्रकार के युग में गांधीजी अपनी सर्वोदय विचार-धारा का क्रान्तिकारी संदेश लेकर आए। समाज रचना का नया कदम, नया स्वरूप हमारे सामने गाँधीजी ने रखा है। इसके विश्लेषण के पहले यह देखना चाहिए कि गाँधीजी एक अर्थशास्त्री थे या नहीं। क्योंकि समाज-रचना का आर्थिक दृष्टिकोण परखना भी आवश्यक है। गाँधीजी भी एक कुशल एवं व्यावहारिक अर्थशास्त्री थे। इसलिए उनकी समाज रचना का चित्र पूर्ण तथा सत्य है। अन्य अर्थशास्त्रियों की भाँति गाँधीजी 'कम काम ज्यादा दाम' या 'सस्ता खरीदो महँगा बेचो' या 'निर्जीवमाँग और पूर्ति संतुलन' आदि के अमानवीय एकांगी रूप को अपनाने वाले नहीं हैं। इन्होंने मानवीय अर्थशास्त्रीयों की श्रेष्ठ परम्परा अपनायी है। मानव-जीवन के समग्र विकास राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं व्यक्तिगत पहलू का पूर्ण ध्यान गांधीजी को है। आर्थिक जीवन एकांगी नहीं है। साथ ही साथ उनके आर्थिक सिद्धान्त हवाई नहीं हैं बल्कि सब विचार पहले आचार से पुष्ट करके निकले हैं। गाँधी भारतीय परम्परा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पोषक होने के साथ-साथ पश्चिमी परम्परा के अर्थशास्त्रियों की परम्परा के भी पोषक हैं। फ्रांस के प्रकृति-

वादियों की भाँति इन्होंने भी कृषि को सर्वोत्तम तथा उत्पादक पेशा माना है। उसी का विकास तथा सम्वर्द्धन समाज को सम्पत्तिशील बनाता है। उन्हीं के विचारों की भाँति इनका भी अर्थशास्त्र का विचार है। आदम-स्मिथ के, प्राकृतिक मूल्य की भाँति ये भी किसी वस्तु के उत्पादन में जितना शारीरिक श्रम लगा हो वही उसका मूल्य है, के समर्थक हैं। इसीलिए शारीरिक श्रम की प्रधानता तथा महत्व इनके विचार का दृढ़ पहलू है। रस्किन् की 'अनटू दिस लास्ट' पुस्तक की प्रेरणा से इन्होंने सर्वोदय विचार का सृजन किया। सामाजिक या मानवीय अर्थशास्त्र की जो विचार-धारा 'रस्किन्' और 'कार्लाइल' ने प्रस्तुत की उसके ये पोषक हैं। मानवीय अर्थशास्त्र के सृजन के लिए इन्होंने मानव के नैतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन का बड़ा ही सुन्दर समन्वय किया है। भूमि तथा ग्रामीण उद्योगों का 'सीताराम' की तरह मानव के जीवन के लिए स्मरणीय नाम दिया। इन्होंने अर्थशास्त्र को एक ऐसा शास्त्र माना जो मानव की शारीरिक तथा आध्यात्मिक भूख की तृप्ति करता है। वास्तविक अर्थशास्त्र की कल्पना गाँधीजी ने की है। इसलिए गाँधीजी को हम कल्याणवादी अर्थशास्त्री और सामाजिक वैज्ञानिक कहते हैं। नैतिक पहलू को वे कभी नहीं भूलते। साध्य तथा साधन की पवित्रता का ध्यान प्रतिक्षण रखते थे। प्रत्येक व्यक्ति नैतिकता की रक्षा करते हुए अपने आर्थिक सुधार की योजना, स्वयं प्रस्तुत करे, यही इनके विचार थे। 'सिसमण्डी' ने सामाजिक अर्थशास्त्र की व्याख्या में 'नैतिकतत्व' की विस्तृत व्याख्या की है। और इसके महत्व को समाज में स्थापित करने का प्रयास किया है। गाँधीजी ने भी सच्चे अर्थशास्त्री की भाँति इसी पहलू को विशेष प्रधानता दी है। 'प्राउधन' ने 'न्याय' की विस्तृत व्याख्या में सम्पत्ति को चोरी माना है और बड़े ही कटु शब्दों का प्रयोग किया है। यही न्याय गाँधीजी की अपनी शब्दावली में अहिंसा है। आर्थिक क्षेत्र में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या न्याय को समक्ष रखकर

इन्होंने चुभते हुये अर्थ में की है। 'सम्पत्ति चोरी' के स्थान पर 'थातेदारी' (Trusteeship) की शब्दावली बड़ी ही मार्मिक है। सबका अधिकतम कल्याण अर्थात् सर्वोदय दर्शन की इन्हीं भावनाओं को लेकर पूर्ण परिपक्वता इन्होंने प्रदान की है। जर्मन अर्थशास्त्री 'फ्रेडरिच-लिस्ट, की भाँति इन्होंने संरक्षण नीति की पुष्टि की है क्योंकि स्वतंत्रता की व्यापारिक नीति सब दोषों का कारण बनती है। कल्याणकारी समाज का लक्ष्य मानवीय अहिंसात्मक समाज की रचना करनी है। मानवीय आवश्यकतायें स्वास्थ्यकर हों तथा न्यूनतम हों। सादा जीवन उच्च विचार का दर्शन गाँधीजी ने समाज के समक्ष रखा। ये विचार 'थोरियो' के विचार के अनुसार ही हैं। जिसमें भौतिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण ही आर्थिक स्वतंत्रता, स्वयं पूर्णता तथा तृप्ति की पूर्ण प्राप्ति करा सकता है। समाजवादी अर्थशास्त्री ही नहीं बल्कि कल्याणकारी अर्थशास्त्री तथा अन्य प्रकार के मानवीय अर्थशास्त्र की कल्पना करने वाले अर्थशास्त्री की भाँति गाँधीजी अर्थशास्त्र के बड़े ही सुलझे हुए पंडित हैं। इन्होंने अर्थशास्त्र को नया ज्ञान तथा मार्ग दर्शन प्रदान किया। गाँधीजी ने कार्लमार्क्स की आर्थिक विचारधारा में अधिक व्यापकता तथा मानवता का सृजन किया है। साध्य तथा साधन की पवित्रता से इन्होंने समाज को शान्ति तथा सुख का संदेश दिया है। बेकारी, शोषण, दरिद्रता, वितरण की विषमता, प्रतिस्पर्धा, साम्राज्य-लिप्सा इत्यादि का अंत गाँधी जी बड़े ही सरल तरीके से करा देते हैं। सामाजिक रोगों को समूल नष्ट करने में ये पूर्ण सफल होते हैं। सामाजिक रोगों के सबसे सफल निदान-कर्त्ता और निवारणकर्त्ता गाँधीजी हैं। आज तक कोई ऐसा अद्भुत व्यक्ति विश्व में नहीं उत्पन्न हुआ जो गाँधीजी की भाँति समग्र मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष का पंडित हो। भारतीय सार्वजनिक जीवन में उनका प्रवेश देश की दरिद्रता को देखकर ही हुआ। मध्यकालीन भूमि-व्यवस्था, रूढ़िग्रस्त सामाजिक पद्धति, भारतीय जनता की दरिद्रता,

ह्रासोन्मुख उद्योग आदि आर्थिक समस्याओं को लेकर गाँधीजी ने अपना कार्य-क्रम निश्चित किया। अर्थशास्त्र के उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व के सभी पहलुओं पर इन्होंने पूर्ण प्रकाश डाला है। इसी से यह पूर्णतया मानना पड़ता है कि गाँधीजी एक बड़े अर्थशास्त्री थे। पहले इन्होंने गरीबों की ही समस्या ली। इन्होंने पहले नमक कर का विरोध किया। उसके उपरान्त रचनात्मक कार्य-क्रम में खादी तथा ग्रामोद्योग का समावेश किया। इनका यह मत था कि जिस प्रकार व्यक्ति के चरित्र का गठन होता है उसी प्रकार समाज-व्यवस्था द्वारा समाज का भी किया जाता है। व्यक्तियों के आचार-विचार, आदर्श और जीवन पर ही समाज का गठन पूर्णतया निर्भर है। मानव के लिए भौतिक साधन आवश्यक है परन्तु वही सब कुछ नहीं है, कृषि तथा उद्योग का विकेन्द्रीकरण इनका लक्ष्य था। इससे पूँजीवादी स्वामित्व तथा नौकरशाही का स्वामित्व समाप्त हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति मुक्त वातावरण में अपने आर्थिक जीवन का निर्माण कर सकेगा। उसी का यंत्र होगा, उसी के साधन होंगे, उसी के अनुकूल कार्य होंगे। सब प्रकार की विषमता तथा शोषण का अंत होगा। यह पहले कहा जा चुका है कि गाँधीजी का अर्थशास्त्र सत्य और अहिंसा के दो स्तम्भों पर खड़ा है। गाँधीजी की समाज व्यवस्था और मानव विकास का चित्र, विकेन्द्रित उद्योगों, आर्थिक तथा राजनैतिक दोहन से मुक्त, समानता, स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र से ओत-प्रोत समाज, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सदाचारपूर्ण और आध्यात्मिक जीवन बिता सकता है, का ही है। मानव की आदि आवश्यकता उसकी भौतिक आवश्यकता है जिससे वह जीवित रह सके। उसकी अंतिम आवश्यकता आध्यात्मिक आवश्यकता है जिससे वह विकसित और अग्रसर हो सके। दोनों की प्राप्ति इस सर्वोदय व्यवस्था में होगी और तभी मानव की समग्र उन्नति होगी।

सर्वोदय शब्द की व्याख्या आवश्यक है। गांधीजी ने रस्किन् की

पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' पढ़ी। यह पुस्तक बाइबिल की एक कथा के आधार पर है। एक अंगूर के बगीचे के मालिक ने एक पेनी रोज पर कुछ मजदूर रखे। ये मजदूर अंगूर के बगीचे में काम करने लगे। दोपहर को जब वह मजदूरों के अड्डे पर गया तो देखा कुछ मजदूर खड़े हैं। उसने उन्हें भी बगीचे में काम करने के लिए भेजा और उचित मजदूरी देने का आश्वासन दिया। तीसरे पहर जब वह पुन: मजदूरों के अड्डे पर गया तो फिर बेकार मजदूरों को देखा उन्हें भी बगीचे में काम करने को भेजा। शाम को वह पुनः जब मजदूरों के अड्डे पर गया तो बेकार मजदूरों को बैठा पाया तब उसने पूछा 'तुम लोग यहाँ क्यों बेकार हो ?' मजदूरों ने उत्तर दिया 'हमें आज किसी ने काम पर नहीं लगाया'। तब बगीचे के मालिक ने उन्हें भी बगीचे में काम करने के लिए भेज दिया और उचित मजदूरी देने का आश्वासन दिया। रात को सब मजदूरों को बुलाकर मजदूरी देने के लिए उसने मुनीम से कहा और सबसे पीछे आये हुये आदमी से मजदूरी शुरू करने को कहा। सबको एक पेनी मिली। प्रातःकाल से आये हुए मजदूरों को लगा कि उन्हें इसी हिसाब से अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए, परन्तु उन्हें भी एक पेनी मिली। इस पर उन्होंने मालिक से कहा कि सबसे पीछे आये हुये मजदूरों को भी एक पेनी मिली और सुबह से आये लोगों को भी एक पेनी मिली। हमको अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए। बगीचे के मालिक ने कहा 'मैंने तुम्हारे साथ कोई अन्याय नहीं किया क्योंकि एक पेनी रोज पर तुम्हें काम करना कबूल था वह तुम्हें मिला ही। अतएव घर जाओ। तुम्हें जितना दिया उतना ही अंत वाले को भी दूँगा। जो चीज मेरी है, उसका उपयोग अपनी इच्छा के अनुसार करने के लिए क्या मैं स्वतंत्र नहीं हूँ ? मैंने अच्छा बर्ताव किया इसका तुम्हें क्यों दुःख हो रहा है ? प्रथम व्यक्ति अंतिम होगा और अंतिम व्यक्ति प्रथम होगा, क्योंकि बहुत लोगों को बुलाने पर भी उसमें से थोड़े ही चुने जायँगे।'

रस्किन् ने इस पुस्तक में चार निबंध लिखे हैं। इसमें सम्पत्ति की व्याख्या विशुद्ध रूप से की गयी है। ईमानदारी तथा सत्यता से सम्पत्ति कमाई जानी चाहिए तभी समाज चेतना पूर्ण तथा उन्नत होगा। डाक्टर, लेखक या सिपाही देश की जितनी सेवा करते हैं उतनी ही सेवा फावड़ा और कुदाल लेकर काम करने वाला मजदूर भी करता है। इस निबंध में 'सम्मान का मूल', सद्भावना और सहानुभूति आधुनिक अर्थशास्त्र की मान्यता, मालिक के कर्तव्य, 'सम्पति की धारायें', अमीरी का अर्थ, सम्पत्ति और समाजद्रोह, नैतिक शक्ति, 'लौकिक न्यायदान', गरीब का शोषण चोरी है, सम्पत्ति गरीबों की ओर बहनी चाहिए, विवेक का उपयोग, उचित पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए, स्पर्धा का दुष्परिणाम, 'मूल्य निर्धारण', वस्तु की उपयोगिता, मेहनत और बाजार का दर, श्रम की प्रेरणायें इत्यादि का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

गाँधीजी के शब्दों में रस्किन् की विचारधारा के तीन सूत्र हैं—

(१) व्यक्ति का श्रेय समष्टि के ही श्रेय में निहित होता है।

(२) वकील के काम की कीमत भी नाई के काम की कीमत के बराबर ही है, क्योंकि हर एक को अपने व्यवसाय में से अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

(३) मजदूर का याने किसान का अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट है।

'सर्वोदय' शब्द भारतीय संस्कृति की पद्धति में निहित है। सर्वोदय का यह आदर्श हमें अत्यन्त प्राचीन समय से प्रेरणा देता रहा है। जैनाचार्य सुमंतभद्र ने दो हजार वर्ष पूर्व इस भावना को यों व्यक्त किया है—सर्वापदामंतकरं निरंतं सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव। गीता में योगी और भक्त के लक्षण में कहा गया है कि वह 'सर्वभूत हिते रताः' होता है।

संसार के समस्त श्रेष्ठ संतों तथा धर्मसंस्थापकों ने इस आदर्श को सर्व-श्रेष्ठ माना है। ऋषियों की हजारों वर्ष पुरानी प्रार्थना है कि—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु। मा कश्चित् दुखमाप्नुयात्॥

यह शब्द गाँधी जी द्वारा प्रणीत है। आज यह नई प्रेरणा से नये समाज निर्माण में नये युग का संदेश दे रहा है। अहिंसा और सत्य के आधार पर स्थापित वर्गविहीन और जातिविहीन तथा जिसमें किसी का कोई शोषण नहीं कर सकता और जिससे प्रत्येक व्यक्ति और समूह को सर्वांगीय विकास करने के अवसर और साधन प्राप्त हो सकते हैं, ऐसे समाज की स्थापना करना सर्वोदय समाज का साध्य है। अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक कल्याण का पश्चिमी सिद्धान्त सर्वोदय नहीं मानता। जिस प्रकार से एक कुटुम्ब का मालिक कुटुम्ब के सब सदस्यों का कल्याण चाहता है, उसी प्रकार सर्वोदय सबके कल्याण में विश्वास करता है। मनुष्य का सारा जीवन समाज के पोषण से ओतप्रोत है। अस्तु उसके कार्यकलापों का हेतु भी समाज सेवा, समाज धारणा और समाज समृद्धि ही होना चाहिए। समाज को शारीरिक और मानसिक आरोग्य प्रदान करने के लिए शरीर बल और बुद्धि बल दोनों की समान मान्यता होनी चाहिए। दोनों का सामाजिक और आर्थिक मूल्य समान होना चाहिए। आर्थिक पूँजीवाद की अपेक्षा बौद्धिक पूँजीवाद समाज के लिए अधिक खतरनाक है। इसीलिए प्राचीन ऋषियों और ब्राह्मणों ने ऐसा विधान बनाया कि बुद्धिजीवी लोग बुद्धि का विक्रय न करें, बल्कि अस्तेय और अपरिग्रह का व्रत लें। इस सिद्धान्त को अपनाने से समाज की विषमता, ऊँचे-नीचे की भावना का लोप होगा, समाज एक रस सूत्र होगा। यहाँ सर्वोदय, साम्ययोग की राह से प्राप्त किया जा सकेगा। व्यक्तियों के शारीरिक और बौद्धिक गुणों तथा सामर्थ्य में कितनी ही भिन्नता क्यों न हो, परन्तु सभी मनुष्य नैतिक तत्व या सत्य की अनुभूति

में समान और एक हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सेवक-गुण से सम्पन्न होना चाहिए। व्यक्तिगत पवित्रता से अपने को शून्य में परिवर्तित कर देना, दुर्गुणों का सतत् विरोध करना, ऐसे साधन प्रस्तुत करना जो सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सकें, व्यक्तिगत गुणों को सामूहिक शक्ति में बदल देना आदि कार्य से सच्चा सेवक बनना होगा। एकादश-व्रत—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता निवारण, शरीर-श्रम, सर्व धर्म, समभाव तथा स्वदेशी भावना का नित्य पारायण करके आत्मशक्ति प्राप्त करना प्रत्येक समाज सेवक के लिये आवश्यक है।

सर्वोदय योजना के आधारभूत सिद्धान्त

(१) मानव ही सारी व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु है।

(२) मानव का आदर्श और उद्देश्य अहिंसा और सत्य पर आधारित परमार्थ, सन्तोष, नैतिकता, सहयोग, सहिष्णुता, दया, सामाजिकता, शोषण, मुक्ति, स्वतंत्रता, समता, सदाचार इत्यादि से ओतप्रोत है।

(३) मानव जीवन की समग्र दृष्टि आवश्यक है, क्योंकि मानव का आर्थिक जीवन, उसके सामाजिक, व्यक्तिगत, नैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन के साथ-साथ चलता है। राजनैतिक सत्ता और धार्मिक सत्ता विकेन्द्रित तथा लोकतांत्रिक होनी चाहिए।

(४) व्यक्ति और समाज का समन्वय, व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र एवं सम्पूर्ण विकास तथा साथ ही साथ समाज का विकास आवश्यक है। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं।

(५) मानव श्रम वास्तविक सम्पत्ति तथा विनिमय का माप-दण्ड है। यही शरीरिक श्रम उत्पादक है और इसी की महानता और श्रेष्ठता है।

(६) बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम के ही समान है। इसका प्रयोग केवल समाज सेवा के लिए किया जाय।

(७) कम से कम चार घण्टे शारीरिक श्रम सबके लिए अनिवार्य है। इसी से समाज में विषमता, श्रेष्ठता तथा निम्नता के विचार दूर होंगे। बौद्धिक श्रम समाज हित के लिए प्रयुक्त किया जायगा। वैसे दिन-चर्या का विभाजन इस प्रकार होगा कि ८ घण्टे काम, ८ घण्टे आराम तथा ८ घण्टे सांस्कृतिक मनोरन्जन इत्यादि अन्य कार्यक्रम। प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बन में पूर्ण समर्थ होकर परस्परावलम्बी आर्थिक व्यवस्था का सृजन करेगा।

(८) यंत्र की मर्यादा होगी। यह केवल मानव के लिए होगा, उसका सहायक तथा उसके आधीन रहेगा।

(९) बड़े उद्योग राष्ट्रीय अथवा पंचायती होंगे जैसे बिजली, रेलवे तथा पोस्टआफिस इत्यादि।

(१०) मूल-भूत उद्योग विकेन्द्रित तथा निजी होंगे जैसे कृषि, पशु-पालन, वस्त्र-उद्योग, इत्यादि।

(११) व्यापार एक समाज सेवा के रूप में होगा। अनुत्पादक व्यवसायों से ब्याज पर चलनेवाले, किराये पर चलनेवाले, दलाली पर चलनेवाले मनुष्य के गुणों पर चलनेवाले (वकालत) मनुष्यों की बीमारी पर चलनेवाले (डाक्टरी) मनुष्यों के व्यसनों पर चलने वाले (दलाली) का समाजीकरण होगा। ये सेवायें लाभ के लिए नहीं चलेंगी बल्कि सेवा के लिए चलेंगी।

(१२) काम तथा आराम एक दूसरे के सहयोगी हों तथा सबके लिए समान हों।

(१३) सम्पत्ति तथा साधन का ग्रामीकरण होगा तथा इनके प्रयोग का अधिकार सबको होगा। इसका आधार प्रेम तथा सहयोग की व्यापकता होगी।

(१४) 'सादा जीवन उच्च विचार' के अनुसार आवश्यकताओं पर नियन्त्रण होगा।

(१५) ग्रामीण जीवन को प्रोत्साहित किया जायगा–कृषि, ग्रामीण-उद्योग, पशुपालन पर विशेष महत्व दिया जायगा।

(१६) साम्ययोग की साधन करनी पड़ेगी जिसके अन्तर्गत हर एक मानव में एक ही आत्मा समान रूप से विद्यमान है; मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं है तथा सम्पत्ति किसी रूप में भी क्यों न हो, उसके मालिक हम नहीं हैं।

इस प्रकार से एक रस बनकर शोषणविहीन, शासनमुक्त, वर्ग-विहीन, शाश्वत, समानता तथा न्याय से पूर्ण समाज का निर्माण हो सकेगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समानता का व्यवहार और आचरण करके साम्ययोगी बन सकेगा।

साम्ययोग की साधना के लिए कुछ तत्वों की जानकारी आवश्यक है। मानव सत्य तथा अहिंसा का स्वभावतः पुजारी है। परन्तु परिस्थितियाँ और संस्कार मानव में विकार तथा दोष उत्पन्न करते हैं। सदुपदेश, प्रेम, मनुष्य की आँखों का परदा उठा देते हैं और क्षणिक विकार तिरोहित हो जाता है। आत्मचिन्तन तथा संयम का थोड़ा अभ्यास मनुष्य को पुनः सत्य, अहिंसा तथा प्रेममय कर देता है। यहीं उसका हृदय-परिवर्तन हो जाता है। मानवता की पूर्ण सिद्धि के हेतु मनुष्य अग्रसर होने लगता है। मनुष्य समाज में अपना विकास चाहता है, परन्तु कुछ दोष जैसे संग्रह, प्रभुत्व, स्वामित्व, हिंसा, स्वार्थपरता इत्यादि उसे असामाजिक कार्यों की ओर अग्रसर करते हैं। इनमें आर्थिक कारण प्रधान रहता है। यद्यपि अन्य कारण भी उसके मूल में रहते हैं। अतएव मानव में संतोष आत्म-त्याग, बलिदान, परमार्थ, इन्द्रियसंयम, प्रेम, सत्य, अहिंसा की भावना का उद्दीपन करना आवश्यक है। इसी के लिए रचनात्मक कार्य-क्रम का निर्धारण किया गया है। मानव इस क्रिया में रत होने पर ही इन गुणों को विकसित कर सकेगा और साम्ययोग की साधना कर सकेगा। सर्वोदय समाज का उद्देश्य सत्य और अहिंसा के आधार पर एक ऐसा

समाज बनाने की कोशिश करना, जिसमें जात-पाँत न हो, जिसमें किसी को शोषण करने का मौका न मिले और जिसमें समूह और व्यक्ति दोनों का पूरा-पूरा (सर्वांगीण) विकास करने का पूरा अवसर मिले। साम्ययोगी समाज को देने के लिए सब कार्य करे। भूमि, वनस्पति, पशु तथा मनुष्य से यह सृष्टि बनी है और एक दूसरे को पोषण शक्तिप्रदान करती है। भूमि अन्न, फल देकर मानव को जीवित रखती है तथा मनुष्य से त्याज्य मल-मूत्र लेकर अपने को बलवती बनाती है। मनुष्य के लिए जो गन्दगी प्राणघातक है वही पृथ्वी के लिए पुष्टिदायक है। अतएव कृतज्ञ मनुष्य का धर्म है कि वह कण-कण मल-मूत्र पृथ्वी के अन्दर डाल दे। भूमि समाज को सब कुछ देती ही है। वनस्पति फल, अन्न तो देती ही है साथ ही साथ प्राणदायिनी आक्सीजन मनुष्य को देकर उसके कार्बनडाइ-आक्साईड से अपनी शक्ति बढ़ाती है। समाज को सब कुछ वनस्पति भी देते हैं। पशु भी सब कुछ जीवित रहते हुए ही नहीं बल्कि मरने पर भी समाज को ही देता है। मानव समाज इन सबसे शक्ति प्राप्त करता है। मनुष्य के पास मानव समाज को देने के लिए केवल प्रेम, दया, सेवा, सत्य, मानवता ही है। यदि इसे भी मनुष्य नहीं दे सकता तो वह सबसे बड़ा कृतघ्नी, शोषक तथा पापी है। सर्वोदय समाजमें मनुष्य को कृतज्ञता प्रकाश करना है और उसे भी समाज को प्रेम-सेवा देनी है। इसके लिए नीचे लिखे कार्य-क्रम हैं :--

(१) साम्प्रदायिक एकता (अलग-अलग धर्मों और सम्प्रदायों को मानने वालों में मेल)—

(२) अस्पृश्यता निवारण—

(३) जाति-भेद निराकरण—

(४) नशाबन्दी।

(५) खादी और दूसरे ग्रामोद्योगों का विकास, जैसे हाथ से

पीसना, कूटना, पछोरना, साबुन बनाना, कागज बनाना, दियासलाई बनाना, चमड़ा कमाना, तेल पेरना इत्यादि।

(६) ग्रामसफाई।

(७) नयी तालीम—शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास—कार्य से शिक्षा देना।

(८) समाज में स्त्री-पुरुष की समानता की प्रतिष्ठा।

(९) आरोग्य और स्वच्छता के नियमों का प्रसार।

(१०) देश की भाषाओं का विकास तथा हिन्दुंस्तानी का राष्ट्र-भाषा के तौर पर प्रचार।

(११) प्रान्तीय संकीर्णता का निवारण।

(१२) आर्थिक समानता।

(१३) खेती की उन्नति।

(१४) मजदूर संगटन—उनके विकास हेतु।

(१५) आदिम जातियों की सेवा।

(१६) विद्यार्थी संगठन।

(१७) कुष्ठ रोगियों की सेवा।

(१८) संकट निवारण और दुखियों की सेवा।

(१९) गो-सेवा।

(२०) प्राकृतिक चिकित्सा।

(२१) अन्य प्रकार की सामाजिक सेवायें।

सामूहिक प्रार्थना, सामूहिक सफाई तथा सामूहिक कताई जीवन में सामाजिकता तथा सहजीवन का संचार करते हैं। विनोबा जी ने समाज को एक रस बनाने के लिए समाज में विभिन्न अवगुणों के स्रोतों को गुण में परिवर्तित करने का यज्ञ प्रारम्भ किया है। भूमिदान यज्ञ, भूमि का ग्रामीकरण करके सबको भूमि से जीविका प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। इसका उद्देश्य गंगा माता की भाँति भूमि का भी सबको उपयोग

और अधिकार का अवसर दिलाना। 'सबै भूमि गोपाल की' की सार्थकता सिद्ध हो रही है। सम्पत्तिदान यज्ञ, उत्पादन के साधनों का वितरण सब में हो जाय के सिद्धान्त का प्रयोग हैं। 'सब सम्पति रघुपति की आहै' पर जोर देकर विषमता की दीवार तोड़ी जा रही है। समाज के प्रति प्रत्येक के उत्तरदायित्व को जागृत किया जा रहा है। श्रमदान-यज्ञ के नारे से बुद्धि तथा शरीर श्रम के अन्तर को समाप्त किया जा रहा है। श्रमदान शारीरिक श्रम की महत्ता और श्रेष्ठता का प्रतीक है। शारीरिक श्रम करने वाला छोटा नहीं है अपितु पुरुषार्थी है। श्रम विनिमय तथा विक्रय की वस्तु नहीं है। बुद्धिदान, साधनदान, समयदान भी लोगों को समाज को देना है। इस प्रकार से जिसके पास जो है वह उसे समाज को देकर भिन्नता का वातावरण जो भूमि, सम्पत्ति, बुद्धि और शारीरिक श्रम इत्यादि कारण बन गया है, पूर्णतया समाप्त कर देना है। इससे समाज विकसित होगा तथा एक रस बन सकेगा, साम्ययोगी इस प्रकार सर्वोदय की साधना का आचरण करेगा। 'भूदान-यज्ञ-मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान, अहिंसक क्रान्ति ही विनोबा जी का नारा है।' 'सीताराम' की भाँति भूमि तथा ग्रामोद्योग का समन्वित स्वरूप खड़ा करना इनका ध्येय है। केवल भूमि का ही स्वामित्व नहीं बल्कि सारे स्वामित्व का विसर्जन हो और समाज के कल्याण को ही अपना 'कल्याण' मानकर हम अपना कर्त्तव्य करते हैं, तभी सामाजिक विकास के कार्य में सबके सद्गुणों का उपयोग हो सकेगा।

समाज में व्यक्ति सादे जीवन की ओर अग्रसर हो। सादा जीवन हमारे आन्तरिक विकास में सहायक होता है। यही विकास मानव का वास्तविक विकास है। जब हम अपनी असीमित भौतिक आवश्यकताओं के जंजाल और लोलुपता से अपने को अलग कर सकेंगे तभी स्वास्थ्यवर्द्धक आवश्यकताओं की तृप्ति करते हुये अपना आंतरिक विकास कर सकेंगे। असीमित भौतिक आवश्यकतायें ही असंतोष, शोषण, छीना-झपटी तथा असामाजिकता का कारण बनती है। स्वास्थ्यवर्द्धक आवश्यकताओं की

तृप्ति के अर्थ हैं थोड़ी सी आवश्यकतायें जिनका सहज परिणाम यह निकलता है कि उनकी पूर्ति हम अपने हाथों और पैरों द्वारा कर सकते हैं और हमारा जीवन स्वावलम्बी बन जाता है। स्वावलम्बी बनने पर हम न तो समाज या उसके किसी व्यक्ति पर बोझ ही बनते है और न उसका शोषण ही करते हैं। अपने श्रम का फल खाते हैं। यही यथार्थ सुख व स्वास्थ्य हमारे हाथों और पैरों के ठीक उपयोग में हैं। प्रत्येक व्यक्ति में असंग्रह की भावना का विकास होता है और परमार्थ की भावना प्रबल होती है। व्यक्तिगत मुक्ति का बड़ा ही अच्छा संसार खड़ा हो जाता है और हम समाजवाद, समुदायवाद तथा पूँजीवाद के संग्रहशील भावना से सदैव के लिए बच जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के सन्निकट रहकर स्वावलम्बन के जीवन में शारीरिक श्रम करता है। यही चार घंटे का शारीरिक श्रम उत्पादक है और शारीरिक श्रम की महत्ता तथा प्रतिष्ठा का पुनः निर्माण करता है। संसार में सर्व कार्य बराबर हैं। काम पवित्र है इसके करने से कोई छोटा बड़ा नहीं होता, इसका आभास हमारे जीवन में होता है। गाँधीजी कहते हैं "यह पहले दर्जे की दुःखगाथा है कि लाखों ने अपने हाथों को हाथों की तरह काम में लाना छोड़ दिया है। हम मनुष्यों को दी गई अपनी इस देन की भयंकर बरबादी के लिए प्रकृति हमसे अपना प्रतिशोध ले रही है। खुद के शरीर को जंग लगने देने के लिए छोड़कर उसके स्थान पर निर्जीव मशीन को ला रखने की कोशिश में शरीर रूपी सजीव मशीन को बरबाद कर रहे हैं। बुद्धि तथा आत्मा के विकास के लिए शरीर श्रम आवश्यक है। प्रत्येक को अपने श्रम की रोटी खानी चाहिए, दूसरे पर भार नहीं बनना चाहिए।" जो ऐसा नहीं करते निठल्ले तथा शोषक व्यक्ति हैं। जब अपने श्रम की रोटी हम खाते हैं तो हममें परमार्थ करने की भावना जगती है। प्रत्येक व्यक्ति को समाज में से उतने ही उपभोग की इच्छा रखनी चाहिए जितना कि दूसरे करते हैं अर्थात् समाज में सब व्यक्तियों

की आवश्यकताओं की भी पूर्ति साथ-साथ होनी चाहिए। इससे अधिक उपभोग करना हिंसा है। किसी को उतना ही उपभोग करने का अधिकार है जितना वह दूसरे को दे सकता है। यही अहिंसा का अर्थशास्त्र है। किसी का शोषण करने का अधिकार किसीको नहीं है बल्कि प्रेम से उसे सहायता देने तथा विकसित करने का अधिकार और कर्तव्य सबका है। इसीलिए असंतुलित यंत्रवाद तथा बड़ी मात्रा का उत्पादन हिंसा का अर्थशास्त्र है। मानवता का ध्यान आदि से अंत तक रखना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। सस्ती-महँगी की विचारधारा मानवता का हनन करती है। जीवन द्रव्य से बड़ा है। सस्तेपन की भावना बड़ी भयावह है। आज चेतन मानव को कार्य से अलग कर अचेतन यंत्र का प्रयोग होता जा रहा है, क्योंकि यंत्र से सामान सस्ता बन सकेगा। इससे करोड़ों मानव बेकार होते जा रहे हैं और जिन्हें काम भी मिलता है वह अति कठोर तथा गन्दे और अस्वास्थ्यकर वातावरण में। इसीलिए गाँधी जी देहाती झोपड़ियों में करोड़ों हाथों को काम देना चाहते हैं। यंत्र द्वारा सस्तेपन और लगातार अवकाश को बहुत ही महँगा मानते हैं। इसीलिए गाँधी जी कहते हैं मैं अत्यधिक उत्पादन नहीं चाहता बल्कि अत्यधिक जनता से उत्पादन चाहता हूँ। सबकी भलाई के लिए किये गये प्रत्येक आविष्कार तथा यंत्र का वे आदर करते हैं। यंत्र होगा परन्तु वह यंत्र जो 'यंत्रवत् व्यक्ति' बनाता है तथा प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच के बाहर होता है और प्रत्येक को असमर्थ तथा असहाय दास बना देता है, उसका वे घोर विरोध करते हैं। वे करोड़ों शरीर के यंत्रों का स्वागत करते हैं। यातायात के साधनों, बिजली इत्यादि का निर्माण होगा, परन्तु वे पंचायती होंगे। शोषण के लिए इनका प्रयोग नहीं होगा।

ग्रामीण अर्थशास्त्र योजना का आधार

सर्वोदय योजना का क्षेत्र ग्राम है। सारी वास्तविक उत्पादन शक्ति प्रकृति की गोद में आज ग्रामों में पाई जाती है। वहीं सच्चा उत्पादन

सम्भव है। इसी ग्रामीण अर्थशास्त्र से सारा व्यापार तथा नागरिक जीवन चलता है। इसकी महत्ता तथा विशेषता अपूर्व है। यहीं अन्न, खनिज पदार्थ, जंगल, कच्चे माल, पशु इत्यादि का उत्पादन होता है, जिससे विश्व की सारी आर्थिक व्यवस्था चलती है। सेना तथा पुलिस में स्वस्थ, हट्टेकट्टे ग्रामीण ही पहुँचते हैं। हर प्रकार से देश की बाहरी तथा आन्तरिक सुरक्षा का कार्य ग्रामीणों का प्रथम श्रेणी का स्वास्थ्य ही कर सकता है। शेष लोग नगरों में स्थित कारखानों में मजदूर के रूप में काम करते हैं। गाँव में उत्पन्न लोग गाँव के धन से ही नगरों में शिक्षा प्राप्त करके नगरों में ही बौद्धिक कार्य में लग जाते हैं। गाँव की उर्वरता से पूर्ण मिट्टी, अनाज तथा कच्चा माल उत्पादित करके नगरों में भेजती है, जिस से नगर के लोग उद्योग चलाते हैं और जीवित रहते हैं। राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग ग्राम की आय से प्राप्त होता है। औद्योगिक देशों तथा नगरों में रहने वाले व्यापारी, बौद्धिक पेशा करनेवाले असंख्य लोग वास्तविक उत्पादन नहीं करते बल्कि इन्हीं ग्रामों की सम्पत्ति का उपभोग चालाकी पूर्वक तथा शोषण के रूप में करते हैं। सारा विश्व-व्यापार तथा उद्योग इन्हीं ग्रामीणों की क्रयशक्ति पर बढ़ता है। दाम सतह तथा अन्य प्रकार की स्थायी आर्थिक व्यवस्था का निर्माण तथा निर्धारण प्राथमिक वस्तुयें जैसे अन्न तथा कच्चे माल ही करते हैं और ये सब के सब ग्राम में पाये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रकृति की गोद में पला हुआ, सब सुख, सम्पत्ति तथा साधन का स्रोत, ग्राम, अवश्य विकसित होना चाहिए और उसी की विकसित आर्थिक व्यवस्था में सारा समाज सुखी होगा और शोषण तथा दासता से सबको मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। इसी के विकास में कार्लमार्क्स तथा अन्य सामाजिक निर्माणकर्त्ताओं का चिंतन जो एक वर्गविहीन, राज्य विहीन तथा शोषण विहीन समाज की कल्पना करता है और जिसमें व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक, नैतिक सब प्रकार से स्वतन्त्र होगा, सार्थक हो सकेगा। ग्राम राज्य की स्थापना सुख

का संसार प्रस्तुत करेगी । प्रत्येक ग्राम विकेन्द्रित घरेलू उद्योगों, खेती, बारी तथा पशु पालन के चार स्तम्भों की एक वाटिका होगा जो अपने में स्वयं पूर्ण होगा । यही आदर्श ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था होगी । खेती में अन्न तथा कच्चा माल उत्पन्न होगा । इस कच्चे माल से वस्त्र इत्यादि की समस्यायें दूर होंगी । सब प्रकार से हमारी आवश्यकता की वस्तुयें हमारे खेतों में उत्पन्न होंगी और उन्हीं का उपभोग हम करेंगे, इससे हमारा स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा । बारी में हम फल, तरकारी उत्पादित करेंगे जिससे संतुलित आहार की समस्या भी हल होगी । पशु पालन के कार्य से दूध, घी, चमड़ा इत्यादि मिल सकेगा । इसके बाद ग्रामीण उद्योग चलायेंगे जो प्राकृतिक वातावरण में वहीं के कच्चे माल से चलेंगे और हमारी आवश्यकताओं की तृप्ति करेंगे तथा कला कौशल का विकास होगा । यह व्यवस्था हमें काम देगी, स्वावलम्बन देगी, स्वास्थ्य देगी, स्वतंत्रता देगी और सुख देगी ।

सर्वोदय योजना का ढाँचा—

खेती की जमीन का स्वामी जमीन जोतने वाला होगा। इसका आशय यह होगा कि जमीन सारे ग्राम की होगी। कृषक केवल जमीन प्रयोग करने का स्वामी होगा । विकेन्द्रित उद्योगों के उत्पादन के यंत्रों का स्वामित्व या तो व्यक्तियों का होगा या सहयोगी संस्थाओं का । केन्द्रीभूत उद्योगों का स्वामित्व संचालन राज्य या पंचायत करेगी । इस प्रकार सब स्वामित्व का स्पष्टीकरण होगा ।

उपभोग—

स्वास्थ्यकर आवश्यकताओं की तृप्ति जैसे अन्न, वस्त्र, निवास, शिक्षा, औषधि, मनोरंजन की आवश्यकतायें पूर्णतया पूरी करने का अवसर सबको प्राप्त होगा। स्वदेशी भावना का पालन करना होगा, अतएव पास-पड़ोस की उत्पादित तथा बनी हुई वस्तुओं का ही उपभोग आवश्यक होगा । इससे उपभोक्ता तथा उत्पादक में ममता, प्रेम और संतोष की

वृद्धि होगी। प्राकृतिक रूप से भी वे ही वस्तुयें हमारे स्वास्थ्य के अनुकूल पड़ेंगी। उत्पादक तथा उपभोक्ता में अधिक दुराव नहीं होगा जिससे बीच के असंख्य दलालों का लोप हो जायगा। वस्तु की पूर्ण विशेषता से उपभोक्ता परिचित होगा। उपभोग की यह रीति लोगों में भिन्नता तथा विषमता नहीं उत्पन्न कर सकेगी। सबके जीवन मान में एक साथ वृद्धि होगी। अतएव उनकी आय में भी विशेष विषमता न होगी जो अन्य लोगों को खटके। आय में यह भेद प्रायः १ और १० के अनुपात में उँगलियों के छोटे बड़े भेद के ही समान होगा। समाज में सबको शिक्षण, पुस्तकालय, चिकित्सालय, यातायात के साधन इत्यादि सेवाओं की सुलभता का प्रबन्ध समाज करेगा। उपभोग ही आदि है यही अंत है, अतएव इस पर पूर्ण नियंत्रण रखना होगा तभी प्रत्येक व्यक्ति तथा पूरा समाज सुखी रह सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक, शारीरिक आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न होती हैं। अतएव उपभोग में भी व्यक्तिगत आवश्यकताओं का ध्यान रखा जायगा।

उत्पत्ति—उत्पादन पद्धति में निम्नलिखित सिद्धान्तों का होना आवश्यक होगा। यह पद्धति समाज में सम्पत्ति का समान तथा विस्तृत वितरण करती है। यह समाज की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति पहले करे और उसके उपरान्त आरामदायिनी तथा विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन करे। यह श्रमिक की सब शक्तियों एवं गुणों के प्रयोग का अवसर दे, जिससे उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके। यह पद्धति अधिक कार्यक्षमता के साथ सम्पत्ति का सृजन कर सके। इसके द्वारा समाज में शान्ति तथा संतुलन का पूर्ण वातावरण स्थापित हो।

कृषि—कृषि ही सारी योजना का केन्द्र विन्दु होगी। उत्पादन की सब क्रिया कृषि के सन्निकट होगी। कृषि करनेवाले कृषक तथा खेत के बीच में अन्य कोई दलाल नहीं होगा। जमींदार नही होंगे। भूमि जोतने वाला ही भूमि का स्वामी होगा। विधवाओं, अवयस्कों तथा अन्य अस-

मर्थों को भूमि का स्वामित्व दिया जायगा। भूमि पर शारीरिक श्रम करने वाला ही भूमि जोतने का स्वामी होगा। अधिक से अधिक लगान खुश्क हल्के में पैदावार का १/३ तथा तर हल्के में पैदावार का १/४ होगी। सब प्रकार के स्वामित्व के झगड़े सर्वोदय आदर्शों में विश्वास करने वाले रचनात्मक कार्यकर्त्ता, काश्तकार तथा भूस्वामी किसानों की एक पञ्चायत से तय हुआ करेगा। भूस्वामी काश्तकार तथा काश्तकार भूस्वामी बनेगा। प्रत्येक को उतनी भूमि प्राप्त होगी जितनी भूमि पर वह अपने श्रम से लाभदायक कृषि कर सकेगा। अंतिम स्वामित्व ग्राम का होगा जिससे भूमि के स्वामित्व के बारे में लोगों में अधिक तृष्णा न उत्पन्न हो तथा जोत करने वाले को भूमि मिल सके। यदि कोई भूमि जोतने वाला भूस्वामी से खेत लेना चाहता है तो वह कुछ धन जो पञ्चायत से तय होगा भूस्वामी को देगा। इस धन के देने में ग्रामीण ऋण देनेवाली संस्थायें सहायता करेंगी।

ग्रामीण अर्थशास्त्र में भिन्नता का होना स्वाभाविक ही है क्योंकि भारत एक लम्बा चौड़ा देश है जिसमें अनेकों उलझनें हैं और बहुत बड़ी भिन्नता है। परन्तु इस आर्थिक व्यवस्था का मूल सिद्धान्त वही होगा जो उत्पादन का सिद्धान्त है। खेती की पद्धति खेतों की लम्बाई चौड़ाई को देखकर निश्चित होगी। लघुतम खेत, स्वावलम्बी खेत तथा विशालतम खेत तीन प्रकार के खेतों का वर्गीकरण होगा। प्रत्येक क्षेत्र को देखकर स्वावलम्बी खेत का निर्धारण अलग-अलग होगा। उसी खेत को स्वावलम्बी खेत कहा जायगा जिसके सहारे किसान अपने रहन-सहन को उचित स्तर पर रख सके। एक औसत परिवार तथा एक जोड़ी बैल को पूरा-पूरा काम मिल सके। पूरा-पूरा काम का तात्पर्य यही है कि उन्हें विकास के लिए आवश्यक आराम, मनोरञ्जन तथा अन्य प्रकार की फुरसत के उपरान्त काम करने के समय में पूर्ण काम मिल सके। इससे उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के साथ उनकी जीविका भी

सरलतापूर्वक चल सकेगी। इससे कम भूमि, लघुतम खेती की होगी उससे जीवन निर्वाह करना कठिन है अतएव उसका एक अलग स्वरूप निर्धारित करना होगा। छोटे खेतों को मिलाकर सहकारी खेती का रूप दिया जायगा। जो विशालतम खेत होंगे वे स्वावलम्बी खेती के अधिक से अधिक तिगुने होंगे क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या के समक्ष खेतों की कमी है अतएव विशालतम खेती की सीमा इससे अधिक नहीं होगी। अधिकतम आय की सीमा निर्धारित करने का नियम ही अधिकतम खेती निर्धारित करने में लागू होगा। हाँ, जो संयुक्त परिवार हैं और जिसमें अधिक लोग शारीरिक श्रम करने वाले हैं तथा समाज सेवी संस्थायें हैं उनके साथ विशालतम खेती की सीमा अधिक करनी पड़ेगी। परन्तु ये अपवाद स्वरूप होंगे।

सब प्रकार के खेतों पर जोतने का स्वामित्व कृषक को होगा। वह बहुधन्धी सहकारी समितियों की सहायता से कृषि की आर्थिक आवश्यकताओं तथा बाजार की आवश्यकताओं को पूरी करेगा। गाँव की पंचायत अपने नियमन द्वारा भूमि पर नियंत्रण रखेगी। प्रत्येक कृषक को उसके नियमों का पालन करना होगा। प्रत्येक कृपक अपने खेत को लगान पर न देगा। भूमि का हस्तांतरण एक सुव्यवस्थित नियम द्वारा किया जायगा। भूमि का एक उचित दाम निश्चित होगा उसी के अनुसार उसे हस्तांतरित करना पड़ेगा। प्रत्येक किसान को पंचायत द्वारा बनाई गई फसलों की योजना स्वीकार करना होगा और अपने को उत्तम किसान सिद्ध करना पड़ेगा। परती भूमि, जलाशय, जङ्गल इत्यादि पञ्चायती भूमि होंगी। यह पञ्चायत भूमिकर इत्यादि वसूल करने का भी उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेगी।

वे खेत जो छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हैं उनमें सहकारी साझे की खेती की जायगी। किसानों को समझा-बुझाकर उन्हें उचित साधन प्रदान करके यह खेती इन छोटे खेतों पर की जानी चाहिए। शीघ्र ही

चकबन्दी का रूप देकर वाटिकागृह की स्थापना हो जायगी। इसमें किसानों के स्वामित्व की भावना भी बनी रहेगी। तथा खेती भी लाभप्रद ढंग से की जा सकेगी। इससे किसान का व्यक्तित्व भी विकसित होगा तथा उसे अन्य प्रकार की प्राप्त सुविधाओं से खेती से लाभ भी होगा। प्रान्तीय या प्रादेशिक अधिकारियों का सम्बन्ध भी इस कार्य के सुचारु रूप से चलाने में होना चाहिए। सहकारी खेती के कई प्रकार हैं। उनमें से कोई भी प्रकार जो किसी स्थल के लिए किसी विशेष परिस्थिति में उपयुक्त होगा, लागू किया जायगा।

तराई तथा नौतोड़ की भूमि जो बड़ी मशीनों की सहायता से तोड़ी और उपजाऊ बनायी जा सकती है उसे तोड़ने में भूमि-हीन श्रमिकों से काम लिया जायगा और भूमि के ठीक हो जाने पर पुनः उन्हीं भूमि-हीन श्रमिकों में उसे बाँट दिया जायगा जिससे वे स्वयं स्वावलम्बी खेती कर सकें। परन्तु पहली अवस्था में उसे सामूहिक खेती का ही स्वरूप दिया जायगा, क्योंकि उसका उचित प्रयोग कर सकना व्यक्तिगत श्रमिक तथा किसान की शक्ति के बाहर है। एक भूमि परिषद् होगी जिसके पास कुछ खेत होंगे जिनमें खेती के तरीके, खेती के बीज, खाद तथा सस्ते औजारों इत्यादि के प्रयोग किए जायेंगे और जो प्रयोग सफल होंगे उन्हें साधारण किसानों तक पहुँचाया जायगा।

भूमि परिषद् की एक केन्द्रीय संस्था होगी जिसका काम देश भर के लिए कृषि की समस्याओं का प्रयोग और अनुसंधान करना तथा प्रादेशिक संस्थाओं के कार्यों का समन्वय करना और उनकी सहायता करना होगा। प्रादेशिक भूमि परिषद् विभिन्न प्रादेशिक परिस्थितियों तथा वातारण से प्रभावित ईकाइयाँ होंगी जिनमें उस प्रदेश की सारी भूमि समस्याओं का समाधान तथा निराकरण होगा। इनके नीचे भिन्न-भिन्न ग्राम भूमि परिषदें होंगी जो सब प्रकार से प्रादेशिक भूमि परिषद् से सहयोग तथा सहायता प्राप्त करेंगी। कृषि के विकास तथा उन्नति के

लिए उसके सब पहलुओं पर यह परिषद् सुव्यवस्थित तथा सुथरे ढंग से प्रयोग करेगी और ग्राम भूमि परिषदों द्वारा किसानों तक वे प्रयोग तथा सुविधायें पहुँचायेंगी। निम्नतमस्तर पर ग्राम भूमि परिषद् होगी जो कृषि की सारी समस्याओं जैसे--ऋण, बीज, औजार, खाद, पानी आदि की व्यवस्था करेगी। ये परिषदें जैसे--केन्द्रीय भूमि परिषद्, प्रादेशिक भूमि परिषद् तथा ग्राम भूमि परिषद् सारी भूमि तथा अन्य प्रकार की समस्याओं का समाधान करेंगी। इनमें सर्वोदय के रचनात्मक कार्यकर्त्ता, अनुभवी किसान, वैज्ञानिक तथा कृषि और ग्रामीण समस्याओं के निपुण व्यक्ति होंगे। इनकी सहायता के लिए अन्य समितियाँ भी होंगी।

ग्रामीण सेवकों का कार्य—

सुचारु रूप से कार्य चलाने के लिए साधारण शिक्षित व्यक्ति चाहिए। ये सेवक ग्रामीण वातावरण के सुख-दुख से तथा किसानों की दरिद्रता, अज्ञानता, बीमारी आदि की अवस्थाओं से पूर्ण परिचित हों तथा उनके इस जीवन में रहकर उनकी सेवा के लिए तैयार हों। उनका लक्ष्य सेवा का होगा। इनका व्रत दृढ़ होगा तथा धैर्य अपूर्व होगा। जब ये तीनों गुण विकसित होंगे तभी ये लोग इस कार्य की प्रथम श्रेणी के योग्य होंगे। इन लोगों को खेती का व्यावहारिक ज्ञान, सहकारिता, ग्रामीण उद्योग, प्रबंध आदि का ज्ञान किसी सहकारी या सामूहिक कार्य पर उसे करते हुये कराया जाय।

जब ये पूर्णतया उससे परिचित हो जायँ तथा अपनी परिपक्वता का सबूत दें तब इन्हें कार्य्यरत कराया जाय। प्रादेशिक भूमिपरिषद को इसके ठीक कार्य के लिए स्वतंत्र आय के साधन दिये जायँगे। ये कार्यकर्त्ता जब कर्त्तव्यनिष्ठ होकर ग्रामीण विकास में लगेंगे तभी ग्राम का सर्वांगीण विकास संभव हो सकेगा। कृषि की योजनाओं के लिए देश के सब मनुष्यों और पशुओं की संतुलित आवश्यकताओं का आँकड़ा इकट्ठा करना पड़ेगा। संतुलित भोजन, वस्त्र, निवास, औषधि आदि का पूर्ण विचार

होगा। किस मात्रा में कौन-सी वस्तु उत्पादित की जाय इस बात का ध्यान रखकर योजना बनायी जायगी। इसके लिए प्रत्येक क्षेत्र स्वावलम्बी होगा और उस स्वावलम्बन के साथ-साथ पूरा देश स्वावलम्बी होगा। सब क्षेत्रों की उत्पादक शक्ति तथा कृषि की आवश्यकताओं में संतुलन होगा। केन्द्रित तथा विकेन्द्रित शक्तियों का भी संतुलन होगा। इनमें ग्राम इकाइयों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान होगा।

साधन की बड़ी आवश्यकता है। इसके लिए धन का प्रयोग करना पड़ेगा। ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था को धन से सींचना आवश्यक है। इसके लिए वर्तमान ग्रामीण ऋण को कम कर दिया जायगा। ग्राम में एक बहुधन्धी सहकारी समिति होगी जो ग्रामीणों के सब धन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी, साधन प्रदान करेगी तथा उनके अधिक उपजाये हुये फसल को विक्रय करेगी।

खेतिहर मजदूरों का शोषण नहीं होगा। उनके लिए भूमि की व्यवस्था की जायगी। जो नौतोड़ की सामूहिक भूमि होगी उस पर वे काम करेंगे और उसके बाद वे उसी भूमि के स्वामी बना दिये जायँगे। जो खेतिहर मजदूर शेष रह जायँगे उनको सम्मानित पुरस्कार की व्यवस्था की जायगी। वे भी अपने श्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त करेंगे। कृषि की वस्तुओं का मूल्यांकन ग्रामीणहित में होगा उन वस्तुओं का मूल्यांकन इस प्रकार का होगा कि लोग नगरों की ओर से विमुख होकर कृषि की उन्नति में प्रयत्नशील हों। इससे स्वावलम्बन बढ़ेगा। कृषि एक लाभदायक उद्यम सिद्ध होगी और सम्पत्ति तथा मानव-शक्ति ग्राम को ओर आयेगी। ग्रामीण जीवन सब प्रकार से सुखमय होगा।

ग्रामोद्योग क्यों ?

भूमि मूलक ग्रामोद्योग प्रधान शोषण रहित समाज की रचना के लिए यह निर्विवाद है कि हमारा देश इसके लिये सबसे उपयुक्त है। ग्रामोद्योग हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है; क्योंकि आज की परिस्थिति की यह माँग है।

प्रथम हमारा यह देश कृषि प्रधान देश है। जिसमें ८३ प्रतिशत से अधिक ग्रामीण हैं; और कृषि भी मुख्य पेशा है। इस कृषि में केवल छः महीने का कार्य है और शेष छः महीने बेकार हैं। ऐसी परिस्थिति में आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से को छः महीने का काम देकर उसकी आय की वृद्धि करना है और उसके जीवन मान को ऊँचा उठाना है। कृषि करते हुए ग्रामीण वातावरण में प्रत्येक ग्रामीण को उसके घर पर ही उद्योग देना अत्यन्त आवश्यक है। जिससे कृषि और उद्योग दोनों की देख-रेख सरलता पूर्वक हो सके। ग्रामीणों को पूर्ण उद्यम मिल सके और उनकी आय में भी वृद्धि हो सके। कृषि पेशा ही ऐसा है कि वह विकेन्द्रित रूप से ही विकसित हो सकता है। इसीलिए उसी के अनुकूल ग्रामोद्योग का भी विकास आवश्यक है।

दूसरी परिस्थिति बेकारी की है। लगभग उन्नीस लाख व्यक्ति प्रति वर्ष काम करने योग्य होते हैं; और ५० लाख प्रति वर्ष देश की आबादी में वृद्धि होती है। केवल साढ़े चौदह करोड़ व्यक्ति परिश्रम करते हैं जो पूरे देश का भरण पोषण करते हैं। इसमें से साढ़े दस करोड़ व्यक्ति खेती में परिश्रम करते हैं और वे भी केवल ६ महीने परिश्रम करते हैं उन्हें भी ग्रामोद्योग द्वारा छः महीने काम देना है। देश की बढ़ती हुई बेकारी को भी समाप्त करना है, परन्तु इसकी समाप्ति ग्रामोद्योग द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार से ग्रामोद्योग अर्द्ध बेकारों को पूर्ण साकार बनायेगा। और इस समय वर्तमान तथा प्रति वर्ष की बढ़ती हुई बेकारी को समाप्त करेगा। शक्ति-मशीनों द्वारा संचालित उद्योग इस बेकारी को दूर नहीं कर सकते। क्योंकि ये शक्ति-चालित यंत्र बहुधा मानवी श्रम को प्रति-स्थापित करते हैं और मानवी श्रम को कार्य से अलग करते हैं। परन्तु परिस्थिति की माँग मानवी श्रम को कार्यरत कराने की है। कार्य व्यक्तित्व के विकास के लिए और स्वाभिमान की वृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इससे सब देशों में और विशेष कर आर्थिक रूप से अविकसित देशों

में मानव को शक्ति मिलती है। काम करने की प्रेरणा और उत्साह का सृजन होता है। इसके परिणाम स्वरूप उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ उपभोग की स्वस्थ शक्ति का विकास और जीवन मान की वृद्धि होती है। स्वस्थ और सुखी नागरिकों का प्रादुर्भाव होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शक्ति-चालित यंत्र के उद्योग अपने पूरक उद्योगों से अधिक रोजगार देने में समर्थ होते हैं परन्तु ग्रामोद्योग के समक्ष उनकी अधिक रोजगार देने की क्षमता नगण्य है। और साथ ही साथ ऐसे उद्यम जिस उद्यम को हमारी आर्थिक व्यवस्था माँग करती है, बड़े उद्योग हमें नहीं दे सकते। हमारे देश में बड़े उद्योगों की भारी कमी है, परन्तु इनका क्षेत्र इन सब परिस्थितियों पर विचार करने पर कुछ सीमित-सा हो जाता है।

तीसरी परिस्थिति देश में विभिन्न पेशों की माँग करती है। बिना पेशे की भिन्नता के देश का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। हमारे देश में कृषि प्रधान पेशा है और उसी के अनुकूल हमें अनेकों पेशों का सृजन करना है। इससे जनसंख्या के बड़े हिस्से की आय में वृद्धि होगी और पेशे की भिन्नता के कारण जीवन की विभिन्नता जैसे कला, मनोरंजन संस्कृति आदि का भी विकास होगा। यह ग्रामोद्योग द्वारा ही सम्भव है; क्योंकि यही सर्वोत्तम रूप से इसमें समा सकता है।

चौथी परिस्थिति पूँजी की है। अविकसित देश होने के नाते हमारे देश में पूँजी की कमी है। इसलिए देश के भीतर इस पूँजी का सृजन करना है। और देश के बाहर से भी प्राप्त करना है। देश के बाहर से प्राप्त-पूँजी का विशेष स्वरूप यांत्रिक श्रम, यंत्र तथा अन्य सुधरे हुए उत्पादक साधन हैं। परन्तु इन वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग हमें अपने देश और परिस्थिति के अनुकूल करना है जैसा कि जापान और स्विटजर लैंड आदि देशों ने किया है। यंत्र वैज्ञानिक और सुधरे हुए हों, परन्तु वे कम दाम के हों और छोटे हों जिससे प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन-कार्य में उनका

प्रयोग कर सके और उत्पादन क्षमता भी सुरक्षित रह सके। यंत्र जब सब की पहुँच के भीतर होंगे तभी वे सुखदायी सिद्ध होंगे, और ग्रामोद्योग का पूर्ण मन्तव्य पूर्ण हो सकेगा। जहाँ तक देश के भीतर पूँजी का सृजन है उसकी ओर भी विशेष ध्यान देना है। पूँजी सृजन के सिद्धान्त के अन्तर्गत पूँजी का सृजन श्रम की उत्पादकता और श्रम को दिये गये पुरस्कार पर निर्भर है। इन बातों पर पूर्ण विचार करने से ऐसा निश्चय होता है कि ग्रामोद्योग में बड़े उद्योगों से अधिक पूँजी का सृजन होगा। अन्य विचार भी पूँजी को सहूलियत और प्राप्ति के बारे में ग्रामोद्योग के अनुकूल ही ठहरते हैं। यदि देश में पूँजी कम है तो छोटी पूँजी से ही संचालित कार्य देश के लिए हितकर होंगे। जैसे एक करोड़ की पूँजी से एक कपड़े की मिल एक हजार व्यक्तियों को कार्य दे सकती है, परन्तु उसी पूँजी से ग्रामोद्योग ढाई लाख आदमियो को काम दे सकता है और पूँजी की सारी प्रक्रियायें हमारी यांत्रिक जानकारी के अनुकूल सीधी और सरल भी होती हैं। हमारे देश में ७५ प्रतिशत से ऊपर ही व्यक्तिगत संचालित श्रम क्षेत्र (Self employment sector) हैं। यदि उन्हें थोड़ी भी पूँजी की सहायता मिल सकती है तो वे अपनी उत्पादकता में बहुत बड़ी वृद्धि कर सकते हैं। यह ग्रामोद्योग द्वारा ही सम्भव है। अधिक से अधिक पूँजी यदि देश के भीतर से ही प्राप्त कर लेते हैं तो हम विदेशी जंजाल में फँसने से बच जाते हैं।

पाँचवी परिस्थिति देश के जीवन माँग को ऊँचा उठाने की है। देहातों में बहुसंख्यक कुटुम्बों की वार्षिक आय ३००) से भी कम है। उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिल पाता। २० प्रतिशत कुटुम्बों की वार्षिक आय १२०) से ६००) तक ही है। ३६००) से अधिक आय वाले कुटुम्ब केवल ७·५ प्रतिशत हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ५० प्रतिशत ग्रामीण कुटुम्बों को जीवन की अत्यन्त आवश्यक वस्तुयें भी नहीं उपलब्ध हो पातीं। इनके जीवन मान को ऊँचा उठाना है। इससे उनके जीवन

में एक उल्लास उत्पन्न होगा; और आशावादिता का संचार होगा ग्रामोद्योग ही उनके जीवन में यह प्रेरणा दे सकता है।

छठीं परिस्थिति आज देश में केन्द्रित उद्योगों से उत्पन्न हो गई है। मालिक मजदूरों में संघर्ष, बड़े उद्योगों के नगरों में मजदूर बस्तियों की दयनीय परिस्थिति, मजदूरों का शोषण, श्रमिकों का स्वास्थ्य और स्वाभिमान, आर्थिक विवशता आदि राज्य के लिए एक समस्या बन गये हैं। उनका निराकरण भी राज्य अपने कानूनों से और अपने श्रम हित और समाज हित व्यय से करने में असमर्थ हो रहा है। इन सब समस्याओं का निराकरण ग्रामोद्योग बड़ी सरलता से कर देता है। देश में व्याप्त विषम सम्पत्ति का वितरण स्वयं इन उद्योगों द्वारा समाप्त हो जाता है। वास्तविक उत्पादक आज की तरह भूखा न रह कर ग्रामोद्योग में उत्पादकता का पूरा फल पाता है। उत्पादन भी अधिक होता है और साथ-साथ वितरण भी समुचित होता है।

सातवीं परिस्थिति मानवी मूल्य की है आज के समाज में अन्य मूल्यों के स्थान पर मानवी मूल्य की स्थापना करनी है। इसकी स्थापना तभी सम्भव है जब कि मनुष्य के उत्पादन और उपभोग में उसके जीवन का तदात्म हो। आज वही उत्पादक-यन्त्र जो मनुष्य ने अपने हाथों की क्षमता बढ़ाने के लिए एक सहायक रूप से अपनाया और वे ही यन्त्र जो मनुष्य के लिए थे और मनुष्य के सहायक थे, आज राक्षस बन मनुष्य के भक्षक हो गए हैं। जब रचना और मनुष्य के हाथों में दुराव उत्पन्न हो जाता है तब कला और मानवता दोनों जड़वत हो जाती हैं, और हमारे संस्कार अमानवी हो जाते हैं। कलायें हृदय पक्ष प्रधान होने के कारण मनुष्य की सहभावना से ओत-प्रोत होती हैं और उनमें सामाजिकता के गुण स्वतः आविर्भूत होते हैं। हमारी कायिक और मानसिक शक्ति में विशेष सम्पर्क बना रहता है। मानवी मूल्य भौतिक जीवन में अक्षुण रहता है। उसे किसी प्रकार का धक्का नहीं लगता है। क्योंकि

हमारे आध्यात्मिक और भौतिक जीवन में कोई दुराव नहीं होता। ग्रामोद्योग ही मानवी मूल्य की रक्षा में पूर्ण सहायक सिद्ध हो सकता है।

उद्योग—देश में दो प्रकार के उद्योग होंगे। एक विकेन्द्रित उद्योग दूसरा केन्द्रित उद्योग। यही सतत् प्रयास होगा कि जिन वस्तुओं का उत्पादन विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा किया जा सकता है उनका उत्पादन केन्द्रित उद्योगों से न किया जायगा। उपभोक्ताओं के आवश्यक उपभोग के सामान विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा उत्पन्न किये जायँगे। खाद्य पदार्थ तथा अन्य प्रकार के मौलिक उद्योग विकेन्द्रित हो जायँगे।। चावल, वनस्पति तथा चीनी के कारखानों सरीखे उद्योग, जो पौष्टिक तत्व का नाश कर देते हैं, बन्द कर दिये जायँगे और उन्हें विकेन्द्रित रूप से चलाया जायगा। उन सब केन्द्रित उद्योगों को जो विकेन्द्रित उद्योगों के लिए प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करते हैं बन्द कर दिया जायगा। विकेन्द्रित उद्योगों के लिए प्रादेशिक स्वावलम्बन प्राप्त करना आवश्यक होगा। ये उद्योग उस प्रदेश के मनुष्यों तथा प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करने में समर्थ होंगे। इन्हें कच्चा माल प्रदान करने, उत्पादन का मार्ग प्रदर्शन, तैयार माल का विक्रय करने तथा यांत्रिक सुधार इत्यादि का कार्य करने का उत्तरदायित्व औद्योगिक सहकारी समितियों का होगा जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होंगी और जिनका एक केन्द्रीय संघ होगा। इन उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिए एक ग्रामीण आर्थिक समिति होगी। उत्पादक कच्चे माल की प्राप्ति तथा पक्के माल के विक्रय के झंझट से मुक्त होगा। इन उद्योगों को बिजली देकर इनकी कार्यक्षमता तथा कार्य विधियों में सुधार किया जा सकेगा, परन्तु यह कार्य उसी सीमा तक होगा जहाँ तक बिजली पूर्ण रोजगारी को प्रोत्साहन दे। सरकार तथा सार्वजनिक संस्थायें विकेन्द्रित उद्योगों के बनाये सामानों का पूर्ण उपयोग करेंगी। इन उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल पर किसी प्रकार का कर नहीं होगा और आवश्यक कच्चे माल तथा शक्ति और साधन सर्व

प्रथम इन्हीं को प्रदान किये जायंगे। इन उद्योगों को प्रोत्साहित करने तथा चलाने के लिए ऐसे व्यक्तियों को रखा जायगा जो यांत्रिक तथा प्रबन्धात्मक पटुता प्राप्त कर चुके हों और जिनमें ग्रामीण वातावरण में उत्साह से कार्य करने की भावना हो। ग्रामीण सेवकों का एक दल होगा जो इन सब कार्यों को पटुतापूर्वक चलायेगा। क्योंकि ये उद्योग छोटी मात्रा में चलेंगे अतएव मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों की संख्या बहुत ही कम होगी। ये मजदूर अपने पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में कार्यरत होंगे। अतएव इनके शोषण का प्रश्न ही नहीं खड़ा होगा। इस छोटे उद्योग में आपसी सम्बन्ध सरल तथा सीधे होंगे। अधिक दाम सतह के परिवर्तन पर उन्हें मजदूरी भी अधिक मिलेगी। आपसी मन-मुटाव बहुत ही कम होंगे और यदि होंगे भी तो वे आपसी समझौते से दूर किये जा सकेंगे। प्रबन्ध में भी उनका पूरा प्रभुत्व होगा जिसके कारण उन्हें उद्योग की पूरी जानकारी रहेगी। मजदूरों को उचित पुरस्कार, मकान, बुढ़ापे की पेंशन, बीमारी तथा बेरोजगारी की पेंशन का भी प्रबंध रहेगा जिससे अपने को सुरक्षित समझेंगे। यह बर्ताव मजदूरों के साथ केन्द्रित तथा विकेन्द्रित दोनों उद्योगों में पूर्णतया किया जायगा। औद्योगिक अनुसंधानशालायें भी होंगी जिनका मुख्य लक्ष्य केन्द्रित तथा विकेन्द्रित उद्योगों की संगठन कुशलता, उत्पादन कुशलता इत्यादि बढ़ाना होगा। साथ ही साथ यह भी अनुसंधान किया जायगा कि किस प्रकारकेन्द्रित उद्योग छोटी-छोटी इकाइयों में बाँटकर ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे पैमाने पर आर्थिक रूप से चलाये जा सकें। छोटे उद्योगों की कार्य निपुणता के पूर्ण विकास के लिए अनुसंधान प्रयत्नशील रहेगा।

केन्द्रित उद्योग भी होंगे। रक्षा की वस्तुओं का उत्पादन, शक्ति का उत्पादन, खाने, धातुयें, जंगल भारी यंत्र तथा इंजन, रसायनिक उद्योग ये सब के सब केन्द्रित होंगे। इन पर स्वामित्व पंचायती होगा। उनका प्रबन्ध तथा संचालन सब समितियों द्वारा होगा। इन उद्योगों का राष्ट्रीय

करण होगा। ये उद्योग किसी प्रकार से ग्रामीण उद्योगों के साथ प्रति-स्पर्धा न करेंगे। इनका पूर्णतया अभिनवीकरण होगा। इन्हीं के कल पुर्जों के लिए विदेशी पावने का प्रयोग किया जायगा। ये उद्योग सब प्रकार से विकेन्द्रित उद्योगों के सहायक होंगे। जो विदेशी कारबार होंगे वे या तो स्वयं समाप्त हो जायँगे नहीं तो उनका भी राष्ट्रीयकरण कर लिया जायगा। विदेशी उद्योग उपभोग की वस्तुयें उत्पादित न कर सकेंगे। राष्ट्रीयकरण से उद्योगों को संभालने का उत्तरदायित्व पंचायती राज्य को हो जायगा। अतएव इस रूप से चलाने के लिए विविध कार्य-पालकों तथा कर्मचारियों की आवश्यकता होगी। पटु और अनुभवी लोगों को यह कार्य सौंपा जायगा। लोगों को आवश्यक औद्योगिक प्रशिक्षण भी दिया जायगा। देश का पूर्ण आर्थिक तथा औद्योगिक विवेचन करके आवश्यक साधनों तथा शक्तियों पर पंचायती सरकार का पूर्ण नियंत्रण और नियमन होगा।

इन सब कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होगी। यद्यपि यह समाज-रचना श्रम निष्ठ होगी पूँजी या धन निष्ठ न होगी तो भी थोड़े धन की आवश्यकता होगी ही। मुद्रा का प्रयोग कम से कम किया जायगा। सब काम अदल-बदल में होगा। मजदूरी, कर तथा सब प्रकार की चुकौती यथाशक्ति अदल बदल में ही की जायगी। स्वावलम्बी विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था में राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन बहुत ही कम हो जायगा। इसके फलस्वरूप देश में सम्पत्ति की विषमता न आ सकेगी और देश मंदी तथा तेजी के व्यापारचक्र से बचा रहेगा। ग्रामीण साख समितियाँ और औद्योगिक समितियाँ होंगी जो धन को एकत्रित करेंगी। इस प्रकार पूँजी का सृजन तथा उसका प्रयोग इन संस्थाओं द्वारा सम्भव होगा। विकेन्द्रित उद्योगों के लिए उतनी पूँजी की आवश्यकता न होगी। परन्तु आधारभूत उद्योगों और खेती के लिए पूँजी की बड़ी आवश्यकता होगी। फसलों का बढ़ाना, पशुओं का बीमा, यंत्रों का सुधार करना इत्यादि सारी

समस्याओं के समाधान के लिए बड़ी पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए बैंकों तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा और ग्रामीण आर्थिक समितियों का जाल गाँव-गाँव फैला दिया जायगा जिनके द्वारा छोटी से छोटी बचत भी एकत्रित करके पूँजी का सृजन किया जा सकेगा। देश भर की पूँजी विविध रूप में समाज के निर्माण में सहायक हो जायगी।

ज्यों-ज्यों हमारी प्रादेशिक स्वावलम्बिता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों आन्तरिक व्यापार और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की क्षीणता होती जायगी। प्रत्येक क्षेत्र में बहुधन्धी सहकारी समितियाँ होंगी जो इस क्षेत्र के आयात और निर्यात पर नियंत्रण रखेंगी। जो सामान उस क्षेत्र में पैदा किया जा सकता है वह सामान दूसरे क्षेत्र या नगर से न आने पायेगा और जिस कच्चे माल का प्रयोग उस क्षेत्र में किया जा सकेगा उसे बाहर न भेजा जायगा। जिन सामानों को वह क्षेत्र नहीं पैदा कर सकता है और उसके उपभोग के लिए वह आवश्यक है, उसे बाहर से मँगाया जा सकेगा। जो कार्यविधि तथा नीति एक प्रादेशिक क्षेत्र के लिए होगी वही कार्यविधि तथा नीति अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अपनायी जायगी। उसी राष्ट्र से हम अदल-बदल करेंगे जो राष्ट्र हमारे राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था का सहायक हो। केन्द्रीय नियोजन आयोग की सिफारिश तथा उत्तरदायित्व पर हम विश्व बैंक से अपने देश के निर्माण हेतु ऋण लेंगे। इस ऋण से अपने केन्द्रिय उद्योग का विकास करेंगे। हमारा दृष्टिकोण सब देशों से सहयोग का होगा न कि प्रतिस्पर्धा का।

यातायात तथा संवाद वाहन के साधनों का विकास ग्रामों को दृष्टि में रखकर किया जायगा। रेलवे, सड़क, जहाज, पानी का रास्ता, पोस्ट तथा तार आदि का विकास ग्रामीण जीवन को एक में जोड़ने के लिए करना होगा। इन पर पंचायती राज का स्वामित्व होगा। इनका प्रयोग ग्रामों को एक दूसरे से बाँधने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ग्रामों में कच्ची सड़कें

तथा नहरों का मार्ग बड़ा ही सुविधाजनक है। रेलों तथा नावों का अधिक प्रयोग बोझा ढोने और सवारी ढोने में किया जायगा। दूसरे कई लाभ होंगे। मनुष्यों तथा पशुओं को काम मिलेगा, सामान सस्ता पड़ेगा तथा खेतों की सिंचाई भी होगी। यातायात के इन साधनों का उद्देश्य ग्रामीण जीवन को सुखी तथा समृद्धिशील बनाना होगा, न कि इनका शोषण तथा नाश।

स्वास्थ्य और सफाई--

लोगों में स्वतः स्वच्छ और स्वस्थ रहने की भावना का विकास कराया जायगा। अतएव उन्हें स्वास्थ्य तथा सफाई के नियमों का ज्ञान कराया जायगा। सामूहिक सफाई तथा व्यक्तिगत सफाई की पूर्ण जानकारी करायी जायगी। रसोई की सफाई, पिसाई की सफाई, पानी की सफाई, भाँजी काटने की सफाई, अनाज की सफाई, परोसने में सफाई, भोजन में सफाई, दातौन तथा हाथ-मुँह धोना, शौच तथा पेशाब जाना, थूकना व नाक साफ करना, झाड़ू लगाना, सामान्य सफाई, कूड़े-करकट तथा मल-मूत्र को खाद बनाना, पशुओं तथा आदमियों के रहने के स्थानों की व्यवस्था तथा स्वच्छता आदि कार्य हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को बताये जायँगे। इससे बहुत-से रोग स्वयं लुप्त हो जायँगे। भोजन को संतुलित बनाया जायगा। प्रत्येक नागरिक एक ही प्रकार का तथा अन्न ही का बराबर भोजन न करेगा। अन्न में परिवर्तन स्वयं उपजाये हुये फल तथा तरकारी, दूध की प्राप्ति प्रत्येक नागरिक को अपने खेती के जीवन से पूर्णतया हो सकेगी। यह अवश्य ध्यान दिया जायगा कि उनके बनाये जाने में खाद्य पदार्थों के पौष्टिक तत्व न नष्ट हो जायँ। भोजन स्वास्थ्य के लिए होगा न कि स्वाद के लिए। ये भोजन संतुलित होंगे और व्यक्तियों में जीवन शक्ति का पूर्ण विकास करेंगे, इससे रोगों का समूल विनाश हो जायगा। यही नहीं उनकी काम वासना पर नियंत्रण तथा नियमन भी किया जायगा। लाभप्रद सांस्कृतिक, नैतिक मनोरंजन के साधन उनमें आत्मसंयम का प्रसार करेंगे।

जीवन के प्रत्येक क्षण को नियमित ढंग से व्यतीत करने की शिक्षा दी जायगी। काम तथा आराम दोनों को अलग-अलग न रखा जायगा बल्कि काम आरामदायक होंगे और आराम काम का होगा। कार्य सुरुचिपूर्ण होंगे। काम में मनोरंजन तथा उत्पादन प्रक्रिया होगी। प्रारम्भ से ही बच्चों की शिक्षा-दीक्षा काम के माध्यम द्वारा दी जायगी। इससे काम आनन्द का रूप लेगा, वह भार स्वरूप न समझा जायगा। इससे मानसिक संतुलन ठीक रहेगा। प्रकृति का सहारा लेकर ही हमारा जीवन चलेगा। प्रकृति द्वारा दिए गए पेड़, पौधों, जड़ी बूटी का प्रयोग करके हम स्वस्थ रह सकेंगे। गाँवों में पानी का उचित प्रबंध किया जायगा। इस प्रकार से पौष्टिक पदार्थ के साथ-साथ जब प्रत्येक नागरिक नख से शिख तक की शारीरिक स्वच्छता आंतरिक स्वच्छता तथा सामाजिक स्वच्छता का महत्व अपना लेगा तो रोगों का स्वतः नाश हो जायगा और व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य स्वयं प्राप्त हो जायगा।

समाज में शिक्षा के द्वारा समुन्नत व्यक्ति का रूप निखर सकेगा। मनुष्यों की निरीक्षक, आलोचक और सृजनात्मक योग्यताओं का विकास कराके, उनमें सृजन, निर्माण तथा सेवा भावना का संचार करना पड़ेगा। मानसिक शारीरिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास रचनात्मक प्रकृति के विकास से ही ओत-प्रोत होगा। बुनियादी शालायें होंगी जो भोजन, वस्त्र, निवास तथा उत्पादक औजारों की प्रक्रिया में शिक्षा देंगी। इससे रचनात्मक तथा व्यवहारिक ज्ञान होगा। ग्रामीण जीवन तथा सामाजिक जीवन को स्वयं पूर्ण बनाने वाले हस्तकला के उद्योगों से शिक्षा का प्रारम्भ होगा। यह शिक्षा सार्थक होगी, प्रत्येक मनुष्य स्वावलम्बी होगा। इससे मनुष्य, प्रकृति तथा समाज के सन्निकट आ सकेगा और उसके जीवन का उद्‌देश्य पूर्ण तथा स्पष्ट होगा। इससे मानव जीवन सन्तोष स्वावलम्बन, सदाचार तथा सहकारिता की ओर अग्रसर होगा। अपरिग्रह अहिंसा तथा सत्य ही नये जीवन का आधार होगा। बुनियादी शिक्षा में

सांस्कृतिक तथा दस्तकारी के रचनात्मक अवयव प्रस्फुटित होंगे। उत्पादन की प्रक्रिया, सामाजिक वातावरण तथा प्राकृतिक वातावरण इस नई शिक्षा के आधार बनकर व्यक्ति के व्यक्तित्व को अनुशासित ढंग से रचनात्मक तथा सेवा की भावनाओं में पूर्णतया ढाल देंगे। नीचे से लेकर ऊपर तक शिक्षा विकेन्द्रित होगी। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से भिन्न है अतएव शारीरिक भोजन मानसिक तथा आध्यात्मिक भोजन सबका भिन्न-भिन्न होगा। इससे सबका पूर्ण विकास सम्भव होगा।

व्यक्ति और राज्य—

विकेन्द्रित ग्रामीण इकाइयों का नियंत्रण और नियमन होगा। उत्पादन, प्रबंध तथा सब प्रकार के राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रिकरण होगा। सबका आधार ग्राम इकाइयाँ होंगी इनके द्वारा चुनी गयी प्रादेशिक संस्थायें होंगी और उनकी चुनी हुई केन्द्रीय संस्था होंगी जो राज्य की एकता को पूर्णतया सफल बनायेंगी। इससे दोनों लक्ष्य पूरे हो जायँगे। प्रथम तो व्यक्तियों के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त होगा, दूसरे राज्य की एकता स्थायी रहेगी। इस प्रकार का सारा राजनैतिक तथा आर्थिक स्वरूप पिरामिड की भाँति होगा। शिक्षा, दीक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, भूमि, विकेन्द्रित ग्रामीण उद्योग इत्यादि ग्रामीण इकाइयों के उत्तरदायित्व की वस्तु होंगी। शासन प्रादेशिक होगा। रक्षा, रेलवे, बिजली. जहाज, यातायात, उद्योग वैदेशिक सम्बन्ध तथा कार्य आदि केन्द्रित संस्था के आधीन होंगे। राज्य केवल रेलवे की खतरे वाली जंजीर रह जायगा। हमारा सारा सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक जीवन स्थानीय नियमन तथा नियंत्रण में रहेगा, जिससे व्यक्ति न्यूनतम शासन में रह कर सामाजिक प्रवृत्तियों और अपनी निज की मौलिक शक्तियों का पूर्ण विकास कर सकेगा। इस प्रकार से व्यक्ति और समष्टि में समन्वय होगा और शासन निरपेक्ष, वर्गविहीन तथा शोषण-विहीन समाज साकार हो सकेगा।

पुलिस तथा सेना की बहुत कम आवश्यकता होगी; क्योंकि अपराध तथा दुर्गुण तिरोहित हो जायेंगे। नागरिक इमानदारी, सार्वजनिक भावना, स्वार्थ त्याग, अनुशासन के गुण, साहस, दृढ़ता, सेवा तथा प्रेम की भावना से ओत-प्रोत होंगे। विकेन्द्रित उत्पादन तथा शासन के कारण सार्वजनिक राजस्व भी विकेन्द्रित हो जायगा। पूरी आय का ५० प्रतिशत ग्रामीण इकाइयों द्वारा व्यय किया जायगा। शेष प्रादेशिक तथा केन्द्रिय सरकार को व्यय करने का अधिकार होगा। केन्द्र की आय में से कुछ उसके चलाये हुए केन्द्रित उद्योगों से प्राप्त होगी तथा कुछ प्रादेशिक इकाइयों से सहायता के रूप में मिलेगी। इस विकेन्द्रित तथा स्वावलम्बी जीवन में लोगों की आय की भिन्नता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारी कमी हो जायगी। इसके परिणाम स्वरूप आयकर तथा आयात-निर्यात कर में भारी कमी हो जायगी। देश के भीतर सब चुकौती नकदी माल और मजदूरी के रूप में की जायगी। लगान माल के रूप में एकत्रित होगी। लोगों को वेतन अन्न के रूप में तथा सेवा के रूप में प्राप्त होगा। सार्वजनिक कार्य जैसे पाठशालायें, अस्पताल, सड़क आदि जनता अपने श्रम से बनायेगी। सारा जीवन प्रकृति के वातावरण में स्वावलम्बन तथा विकेन्द्रित ढाँचे में चलेगा जिसके फलस्वरूप सार्वजनिक आय-व्यय स्वतः बहुत कम हो जायगा। सार्वजनिक आय-व्यय का रूप नकदी मुद्रा में कम होकर माल तथा सेवाओं में अधिक होगा। इससे सामाजिक मान्यतायें अन्य मूल्यों के परिवर्तन के साथ-साथ बदल जायँगी।

सर्वोदयी योजना का दृष्टिकोण—

सब प्रकार के जीवों, मनुष्य, पशु आदि का सर्वांगीण विकास होगा। जीवन का विकास उद्देश्य है तथा प्रकृति का विकास साधन होगा। प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग न किया जायगा। प्रकृति के विकास के लिए मनुष्य को जड़यंत्र नहीं माना जायगा। प्रकृति मानव विकास में सहायिका होगी। अतएव समाज तथा राज्य का यह प्रथम उत्तरदायित्व होगा कि

वह अपने क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति को काम दे। यह काम प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का साधक होगा। जीवन की उन्नति मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में मानी जायगी। मनुष्य के विकास में बाधक मानवीय या प्राकृतिक बाधाओं को न्यूनतम किया जायगा। शासन सत्ता तथा अर्थ उत्पादन का विकेन्द्रीकरण किया जायगा, जमीन पर से संस्थाओं का स्वामित्व हटाया जायगा। ऐसी अर्थ व्यवस्था जो मुनाफा, दलाली, व्यापार आदि को प्रोत्साहित करके मनुष्य को शोषक और परावलम्बी बनाती है, का अंत किया जायगा। दासता के सब रूप समूल नष्ट किये जायँगे। सारे उत्पादक साधनों पर काम करने वाले का स्वामित्व होगा। आलसी लोग शोषक बनकर समाज में भोग विलास, प्रलोभन, लोलुपता आदि दुर्गुणों का प्रसार करते हैं अतएव उनको स्वावलम्बन की ओर ले जाकर इन दुर्गुणों का विनाश किया जायगा। मानव की शक्ति, जहाँ कुछ अपना मौलिक विकास कर सके ऐसी परिस्थिति का विकास किया जायगा। आहार तथा पोषण में प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी होगा। ये वस्तुयें अधिक मात्रा में पायी जायँगी। प्रत्येक व्यक्ति इसे अपने श्रम से प्राप्त करेगा; बुनियादी तालीम प्रारम्भ से हमें इस ओर ले जायगी। शरीर, गाँव की स्वच्छता, लोगों को पौष्टिक भोजन की व्यवस्था दवा से पहले होगी। राज्य अपनी ओर से सेवा भावना को दृष्टि में रखते हुए उन सब सुविधाओं को प्रस्तुत करेगा जो व्यक्ति की हैसियत से परे हैं। समाज में नैतिक और सांस्कृतिक तत्वों का समवर्द्धन तथा प्रसार होगा। इस प्रकार से शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य से युक्त व्यक्तित्व विकसित होगा जिससे सर्वांग विकसित स्वस्थ समाज का निर्माण होगा।

वर्तमान भारत में योजना की एक परख—

सर्वोदय विचार-धारा के विद्वान् श्री अन्ना साहब सहस्र बुद्धे ने भारतवर्ष के लिए एक योजना प्रस्तुत की है जिसका नाम उन्होंने

'नीचे से समाज रचना' (Building From Below) दिया है। इस योजना द्वारा उन्होंने आज के विद्वानों द्वारा उठाई गई सभी शंकाओं का समाधान किया है। प्रथम, आज अधिक उत्पादन की आवश्यकता है क्योंकि हमारा उपभोग अभी निर्वाहस्तर से भी निम्न है। अतएव बड़ी मशीनों से हमें अधिक से अधिक उत्पादन करना है, क्योंकि इसी प्रकार उपभोग बढ़ाया जा सकेगा। यदि हम इसे नहीं अपनाते तो उपभोग पर जो पहले से ही न्यून है और नियंत्रण लगाना होगा, जो उचित नहीं प्रतीत होता। दूसरे, हमें संसार के अन्य देशों के समक्ष इस वैज्ञानिक युग में उत्पादन के विभिन्न क्षेत्र-कृषि उद्योग, यातायात, बैंकिंग आदि में अपने को बराबरी में लाना है। बिना बड़े उद्योगों तथा मशीन के यह कैसे सम्भव होगा। तीसरे, इन बृहद् उद्योगों के चलाने के लिए तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए इस समय हमें पूँजी की बड़ी आवश्यकता है। उसका भी सृजन करना है। तो उसका अधिक से अधिक सृजन बृहद् उद्योगों से ही हो सकेगा; कृषि तथा छोटे उद्योगों से पूँजी का सृजन उस दर से क्या सम्भव है? चौथे, उत्पादन के वितरण में राज्य तथा व्यक्ति का क्या स्थान होगा? पाँचवे, भीषण बेकारी को दूर करने के लिए औद्योगीकरण करना होगा जिससे उसके साथ-साथ पूरक उद्योगों का विकास हो सके और पूर्ण रोजगारी की स्थिति उत्पन्न कर जनता का जीवनमान ऊँचा किया जा सके। क्या यह लघु उद्योगों तथा कृषि द्वारा सम्भव है? छठवें, बड़ी मशीनों के उद्योगों का संचालन, प्रबन्ध तथा महत्व कैसे होगा? सातवें, औद्योगिक क्षमता तथा सस्तापन कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इन सब समस्याओं का आज की परिस्थिति में आप क्या उत्तर प्रस्तुत करते हैं? क्या ग्रामीण उद्योग और कृषि समस्या के वास्तविक समाधान हैं?

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत योजना में पूर्णतया प्रस्तुत किया गया है। आज के हमारे विधान में मनुष्य के मूल अधिकारों में एक अधिकार

यह भी है कि राज्य प्रत्येक नागरिक को रोटी तथा रोजी का प्रबंध करे। साथ ही साथ व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का किसी भी प्रकार राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक शोषण भी न कर सके। आर्थिक जीवन का लक्ष्य यही स्थिर किया गया है कि (१) देश में उत्पादन को अधिक बढ़ाना। (२) देश में सबको उद्यम देना। (३) ऐसा उद्यम देना जिसमें किसी का आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा शारीरिक शोषण न हो, अर्थात् स्वस्थ उद्यम प्रदान करना। (४) सम्पत्ति का वितरण भी सम हो अर्थात् सबको न्याय-संगत उचित पुरस्कार प्रदान किया जाय। जिससे सबका जीवनमान ऊँचा हो सके। यहाँ आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन तथा वितरण साथ-साथ होगा। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन की विशेषता, समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में वितरण की विशेषता है। परन्तु आज की आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य तथा उसकी विशेषता में उत्पादन तथा वितरण साथ-साथ है। इस योजना का आधार मनुष्यबल तथा पशुबल है, यह श्रमनिष्ठ योजना है। पूँजीनिष्ठ योजना नहीं है। यह योजना देश की जन-संख्या का पूर्ण महत्व समझती है और उसी के अनुसार योजना का निर्माण करती है।

इस समय भारत देश में सरकारी आँकड़े के अनुसार १५ वर्ष से ५५ वर्ष के लोगों की कार्य करने योग्य जन-संख्या लगभग १९ करोड़ मानी जाती है। पूरी आबादी में से १९ करोड़ काम करने योग्य हैं परन्तु १४ करोड़ लोग काम करते हैं, ४½ करोड़ लोग बेकार हैं और कुछ लोग ५ करोड़ बेकार मानते हैं। सर्व-सेवा-संघ ने भारत में काम करने योग्य आबादी १२ वर्ष से ६५ वर्ष तक मान ली है। जिसके अनुसार लगभग २२½ करोड़ आबादी कार्य करने योग्य है। सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार यदि १४ करोड़ को काम मिला मान लें; तो लगभग ९ करोड़ लोगों को अब भी काम देना है। परन्तु इनके साथ यदि हम पूर्ण उद्यम देने की बात करते हैं तो बेकारों की संख्या और

भी बढ़ जाती है। खेती में दस करोड़ लोग काम करने वाले हैं जो ६ मास लगभग बेकार रहते हैं। अतएव उनमें ५ करोड़ लोगों को पूर्ण काम मिलता है शेष आधे लोग बेकार मान लिए जाते हैं। इसे आधा उद्यम कहते हैं। ८ घंटे प्रत्येक व्यक्ति का काम यदि पूर्ण उद्यम मान लिया जाता है तो देश में लगभग ४॥ करोड़ लोग ही काम करते हैं और शेष बेकार हैं और इस समय १८ करोड़ लोग बेकार हैं। यह बेकारी प्रतिवर्ष उग्र रूप धारण करती जायगी क्योंकि आबादी बढ़ती जा रही है और काम करने योग्य व्यक्तियों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। अब इस बेकारी की उग्र समस्या का उत्तर देना योजना का प्रथम लक्ष्य होना चाहिए। यह समस्या उदासीनता पूर्वक ठुकराई नहीं जा सकती। सबको बेकारी की पेंशन देकर, दान देकर उनके स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँचाना है बल्कि सबको उत्पादन का साधन देकर उनके स्वाभिमान को ऊँचा उठाना है।

स्वामित्व को दृष्टि में रखकर जब हम विचार करते हैं तो हमारे देश में ७५% लोग स्वयं अपने साधन से काम कर रहे हैं जिसे स्वयं उद्यम क्षेत्र (Self employment Sector) कहा जा सकता है। १९५३ में प्रकाशित सूचना के अनुसार राष्ट्रीय आय में ५१% से ५५% उत्पादन इन्हीं के द्वारा हुआ है। यदि इन्हीं को कुछ सुधरे हुए साधन दे दिए जायँ तो उत्पादन ४-५ गुना बढ़ सकता है। इसमें थोड़ी पूँजी की आवश्यकता है परन्तु अधिक उत्पादन और अधिक उद्यम प्राप्त हो सकेगा। इसमें कोई एक दूसरे का मजदूर नहीं होगा और सबके सब अपनी आय की वृद्धि भी कर सकेंगे। यही योजना का केन्द्रविन्दु होना चाहिए। जहाँ तक पूँजी का प्रश्न है बड़े उद्योगों में १) पूँजी पर १) आय होती है परन्तु यदि ग्रामोद्योग में थोड़े सुधरे हुए औजार तथा साधन पूँजी के रूप में दे दिये जायँ तो आय में पाँच गुनी वृद्धि होती है। अतएव ग्रामोद्योग में आय भी बहुत अधिक होगी तथा पूँजी का सृजन भी

बहुत अधिक होगा पूँजी के सृजन में भी ग्रामोद्योग बड़े उद्योगों से श्रेष्ठकर होगा।

साथ ही साथ उद्यम देने की समस्या है। हमारे देश में पूँजी की कमी है यह ध्यान देने की बात है। श्रम अधिक है इस महत्व को समझने की आवश्यकता है। आज अमेरिका में उत्पादन में सर्वश्रेष्ठ क्षमता प्राप्त करने के कारण एक आदमी को काम देने के लिए १२ हजार से १७ हजार रुपये तक की पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। योरोप तथा ब्रिटेन में ६०००) की पूँजी की आवश्यकता है। तथा भारत में एक आदमी को बड़े उद्योगों में काम देने के लिये ३०००) पूँजी की आवश्यकता है। बड़े उद्योगों में श्रम का पुरस्कार केवल २०% से २५% तक ही होता है। यह भी विचारणीय प्रश्न है क्योंकि आर्थिक विषमता को भी कम करना हमारा उद्देश्य है। उदाहरण के लिए आज मिल के एक तकुवे में २२५) का व्यय पड़ता है जब कि एक चर्खे के तकुवे में १०) व्यय पड़ता है। नये अम्बर चर्खे में चार तकुवे है व्यय लगभग ५०) हैं अतएव एक तकुवे के लिए १२॥) पूँजी की आवश्यकता है। एक आदमी को काम देने के लिए कम से कम पूँजी की आवश्यकता हुई और काम की मात्रा भी दोनों की एक पड़ती है।

कृषि का ग्रामोद्योग एक अविभाज्य अंग है। इसकी ओर भी उसी प्रकार से ध्यान देने की आवश्यकता है। आज सर्वत्र पूँजी का अभाव है। ७०% पूँजी महाजनों से प्राप्त होती है जो गरीबों का शोषण करते हैं तथा ३०% बहुधन्धी सहकारी समितियों से ऋण कृषि को मिलता है। ग्रामीण ऋण समिति की विज्ञप्ति के अनुसार देश में ७ करोड़ परिवार हैं। एक करोड़ परिवार की आय ३००) से कम है। इन्हीं को हमें ऊपर उठाना है जो परिवार समाज में आय की दृष्टि से निम्नतर स्तर पर हैं। श्रीमान् को श्रीमान् नहीं बनाना है बल्कि साधनहीन दरिद्रों को ऊपर उठाना है और धीरे-धीरे सबको श्रीमान की सतह पर लाना है। यही

नीचे से आर्थिक योजना है। अन्य योजनाओं में पूँजी तथा साधन उन्हीं को मिलते हैं जिनके पास साधन है। परन्तु साधन हीनों को साधन देना योजना का लक्ष्य होना चाहिए। खादी, शक्कर, गुड़ तथा कागज जैसे ग्रामोद्योग से कम पूँजी द्वारा बहुत लोगों को काम मिल सकता है। देश में २० और २५ उद्योगों को विकेन्द्रित रूप से चलाना होगा जिससे थोड़ी पूँजी में अधिक लोगों को काम मिल सकेगा। कागज के बड़े उद्योग में ५ हजार रुपये पूँजी पर एक मजदूर को काम मिलेगा परन्तु ग्रामोद्योग के कागज पर यदि ३ हजार रुपये की पूँजी लगा दें तो १३ प्राणियों वाले ४ परिवारों को काम मिल जायगा। इसी प्रकार के अनेकों हिसाब हैं जिनमें १ करोड़ रुपये की पूँजी से मिल १००० आदमियों को काम देती हैं और ग्रामोद्योग स्वस्थ ग्रामीण वातावरण में २½ लाख व्यक्तियों को काम देता है। इस योजना में ५००० व्यक्तियों का घटक होगा जिसमें ५% नौकरी करेंगे ५% केन्द्रित उद्योगों में काम करेंगे। शेष ६०% लोग स्वयं साधन के उद्यम में लगेंगे। सब कार्य बहुधन्धी सहकारी समितियों द्वारा चलेगा।

कृषि के क्षेत्र में हाथ से खेती बहुत लाभप्रद सिद्ध होती है। जापान का उदाहरण हमारे समक्ष है। जहाँ ६०% लोग हाथ से खेती करते हैं वहाँ २½ एकड़ से बड़े खेत नहीं हैं वहाँ पर एक या दो एकड़ में कृषक की आय २३००) है। हमारे देश में हाथ से खेती अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है। प्रत्येक परिवार छोटे उद्योगों के साथ-साथ गहरी कृषि भी करेगा। इस प्रकार २५० करोड़ रुपये से ही हमारे अधिकाधिक लक्ष्यों को पूर्णतया प्राप्त करने में यह योजना सहायक होगी।

इस योजना की रूप-रेखा संक्षेप में ऊपर बताई गई है। यह योजना सर्वोदय विचार धारा से ओत-प्रोत है। भारत के लिए यह योजना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है। सर्वोदय आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन तथा वितरण साथ-साथ होता है, यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। उदाहरण

स्वरूप खादी उद्योग को ही ले लें। यदि आप १) की खादी खरीदते हैं तो आठ देहातियों को भोजन मिलता है। साढ़े छः आने पिंजारिनों तथा कत्तिनों को, तीन आने उत्पादन, यातायात और बिक्री खर्च, ढाई आने किसान को कपास का तथा ४ आने बुनकर परिवार को प्राप्त होता है। सबका सब उत्पादक तथा श्रमिक को प्राप्त होता है। खादी तथा ग्रामोद्योग की सबसे बड़ी यही विशेषता है। जब हम हाथ के बुने हुये परन्तु मिल के कते हुये सूत का कपड़ा प्रयोग करते हैं तो उसमें ४०% श्रमिकों को प्राप्त होता है और हाथ के कते और हाथ के बुने हुये कपड़े में ८५% श्रमिकों को प्राप्त होता है तथा मिल के बुने हुये और मिल के कते हुये कपड़े में २०% से २५% श्रमिकों को प्राप्त होता है।

विभिन्न आर्थिक पद्धतियों का सूक्ष्म परिचय

मैं पहले बता चुका हूँ कि पूँजीवाद ने एक निराशा का वातावरण उत्पन्न कर दिया। समझा गया था कि सामन्त युग के बाद यह युग सर्वांगीण मुक्ति प्रदान करके भौतिक कल्याण की कुंजी मानव को आविष्कार के रूप में प्रदान करने जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रेरणा तथा सुख और लाभ की इच्छा से स्वर्गीय आनन्द का निर्माण करेगा। परन्तु परिणाम उल्टा हो गया। पूँजीवाद स्वयं संकट में पड़ गया। समाज में दो वर्ग हो गये। एक तो साधनों का स्वामी, दूसरे श्रम का स्वामी, जिसे मजदूर कहते हैं। साधनहीन मजदूर को १६ घंटे काम करना पड़ता। सब नगरों की ओर बढ़े, क्योंकि वहीं वाष्प का इंजन काम देता था और वहीं उद्योग केन्द्रित थे। मजदूरों की संख्या बढ़ जाने से मालिकों ने माँग और पूर्ति नियम का लाभ उठाया। कम मजदूरी देकर अधिकांश लाभांश प्राप्त करने में मालिक समर्थ हुये। कम मजदूरी मिलने के कारण मजदूरों की आवश्यकतायें पूरी न होतीं अतएव उन्होंने अपनी औरतों को भी काम पर लगाना प्रारम्भ किया और लाभ की दृष्टि से परि-

स्थिति पूँजीपतियों के अनुकूल हो गई। वह कम मजदूरी देकर उनकी औरतों से भी काम लेने लगा। मजदूरी की दर में कमी हो गई। मजदूर पुनः अपनी आय की वृद्धि के लिए अपने बच्चों को भी काम पर ले जाने लगे। इससे पूँजीपति और सस्ते में श्रमिक पाने लगा और कम मजदूरी देकर अपने लाभ को बढ़ाने में समर्थ हुआ। पुरुष स्त्री तथा बच्चे सब काम में रत हो गये। नगरों की गन्दी गलियों में मजदूर परिवार गरीबी का जीवन बिताने लगे। अनेकों पापों बीमारियों तथा दोषों से वे त्रस्त हो गये। अधिक संख्या में मरने लगे। परन्तु अधिक संख्या में बच्चे भी होने लगे।

मजदूरों की इस दयनीय परिस्थिति ने उन्हें बाध्य किया कि वे एक सूत्र में बँध जायँ। मजदूरों के नेताओं ने मजदूर संगठन बना लिया। उसी के द्वारा मजदूरों की माँगें सरकार के सामने रखी जाने लगीं। पहले तो सरकार पर पूँजीपतियों का बल रहा परन्तु समय की गति के कारण मजदूरों की माँगें सरकार को माननी पड़ी। पूँजीपतियों ने जब अपने स्वार्थ की पूर्ण सिद्धि में बाधा देखी तो उन्होंने अधिक खर्चीली मशीनों का आविष्कार तथा प्रयोग आरम्भ किया और कम-से-कम मजदूरों को रखना लाभप्रद समझा। साथ ही साथ उत्पादकों ने आपस में एक संघ बना लिया जिससे वे मजदूर संघ का सामना कर सकें। अब पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के दो विशाल संघ बन गये। कम मजदूर अधिक मशीन का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इसके परिणामस्वरूप समाज में क्रयशक्ति की कमी पड़ने लगीं क्योंकि कम लोगों को ही काम मिल पाता और लोग बेकार होने लगे। समाज में इतना अधिक बना हुआ सामान कौन क्रय कर सकता है? लोगों के पास अन्न वस्त्र नहीं हैं परन्तु पूँजीपतियों के पास बहुत सामान बिना बिके पड़ा हुआ है। इस परिस्थिति को अर्थशास्त्र की भाषा में मंदी कहते हैं। मशीन के आविष्कार की धुन में पूजीपति उत्पादक वस्तुओं (Capital goods) में अपनी

शक्ति लगाने लगता है; क्योंकि वह स्वयं चालित मशीनों के प्रयोग से मजदूर को काम से अलग रखना चाहता है। उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन में बड़ी पूँजी लगती है, साथ ही इन उत्पादक वस्तुओं की माँग उपभोग के सामानों की माँग पर निर्भर है। यदि बेकारी के कारण उपभोग के सामानों की माँग कम हो गयी तो पूँजी के सामानों की माँग भी कम हो जायगी। वे बिना बिके पड़े रह जायँगे। ये ही आर्थिक संकट के सबसे बड़े कारण प्रस्तुत करते हैं। आविष्कार की बुद्धि नित्य नवीन परिवर्तन करती चलती है। नयी क्षमता की खोज के फलस्वरूप बहुत बड़ी लगी हुई पूँजी बेकार हो जाती है। ये पूँजी के सामान पूँजीपति को स्वयं बहुत बड़े संकट में डाल देते हैं। उत्पादन में शिथिलता आ जाती है। जब बना हुआ सामान ही नहीं बिक पाता तो आगे उत्पादन क्यों किया जाय? अतएव उत्पादन बिल्कुल ठप हो जाता है जिससे सबके सब बेकार हो जाते हैं। समाज को पूँजीवाद इस दुखद परिस्थिति में डाल देता है। व्यापार चक्र में सारी आर्थिक व्यवस्था घूमने लगती है। इसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है। इससे समाज के बेकार लोगों में घोर असंतोष उत्पन्न होता है। दूसरी बात यह होती है कि बड़ा पूँजीपति छोटे पूँजीपतियों को धीरे-धीरे समाप्त भी कर देता है और थोड़े से पूँजीपति सारी आर्थिक व्यवस्था का संचालन करने लगते हैं। इससे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होने लगता है और यह भी पूँजीवाद को समाप्त करने में सहायक होता है। पूँजीपति अपनी पूँजी लगाने के लिए अन्य उद्योगों को ढूँढ़ता है और विविध प्रकार के नाश और विलासिता की वस्तुओं का जैसे अस्त्र-शस्त्र, अफीम, कोकीन, संखिया, गाँजा, शराब आदि उत्पादन करता है और अपनी पूँजी को इन स्थानों पर परिवर्तित कर देता है। जब समाज में अधिकतर जनता आधापेट भोजन तथा तन भर वस्त्र नहीं प्राप्त कर सकती ऐसी परिस्थिति में यह उत्पादन विधि किस प्रकार नैतिक कही जा सकती है।

पूँजीवाद अनेकों रूप में आगे बढ़ता है। एक तो खेतिहर पूँजीवाद जिसमें कुछ के पास हजारों बीघा भूमि और कुछ भूमि हीन होते हैं। दूसरे औद्योगिक पूँजीवाद जिसके अंतर्गत देशी पूँजीवाद तथा विदेशी पूँजीवाद है। तीसरे नौकरी का पूँजीवाद है जिसमें कुछ को ऊँचे पुरस्कार, कुछ को बहुत कम वेतन प्राप्त होता है। चौथे व्यापारिक पूँजीवाद है। पाँचवे बुद्धि का पूँजीवाद है। पूँजीवाद के कतिपय दोषों को संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि ये शोषण पर आधारित हैं, इनका उद्देश्य लाभ ही है। सारी मान्यतायें धन की ही होती हैं। स्वार्थ-परता के प्रभाव से समाज सेवा का पूर्ण अभाव पाया जाता है। चोर-बाजारी, नकली चीजें आदि हानिकर चीजों का विक्रय करना ही पूँजीवाद का सर्वश्रेष्ठ कार्य माना जाता है। बहुत मात्रा में प्रतिस्पर्धा के कारण चीजें उत्पादित करके समुद्रों में फेंकना तथा जलाना, देश के प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग करना, आर्थिक संकट तथा मंदी का प्रकोप, साम्राज्य-वाद का फैलाव इसलिए कि कच्चे माल का बाजार प्राप्त हो तथा तैयार माल के विक्रय का बाजार प्राप्त हो। करोड़ों व्यक्तियों को असमर्थ बना देना जिससे वे बेकार होकर दरिद्रता में ही घुट-घुट कर जीवन व्यतीत करें, समाज में भयानक विषमता का प्रादुर्भाव होता है। आर्थिक दासता बढ़ती जाती है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य गिरता जाता है। मजदूरों को गन्दे अँधेरे स्थलों पर कार्य करना पड़ता है। गन्दी गलियों में रहना पड़ता है। वे प्रकाश, हवा, पानी की कमी के कारण अस्वस्थ हो जाते हैं। शराबखोरी, वेश्यावृत्ति तथा व्यभिचार में ही उन्हें आनन्द मिलता है। नैतिक पतन तथा दुर्बलता का प्रकोप बढ़ता है। चोरी, डकैती, हत्यायें बढ़ती हैं क्योंकि एक ओर देश में आराम का बोलबाला होता है तो दूसरी ओर भूखमरी का। वायुयान, तोप, अस्त्रशस्त्र को बढ़ावा दिया जाता है जिससे आर्थिक साम्राज्यवाद बढ़े। बड़े-बड़े भीषण युद्ध विकराल रूप धारण करते हैं। आज उसी का प्रकोप है जिससे प्रतीत होता है मानवता तथा सभ्यता कहीं समाप्त न हो जाय।

समाजवाद—

पूँजीवाद के दोषों के फलस्वरूप समाजवाद का आविर्भाव हुआ, क्योंकि परिवर्तन आवश्यक था। आचार्य नरेन्द्रदेव जी के शब्दों में "समाजवाद का ध्येय वर्गविहीन समाज की स्थापना है। यह वर्तमान समाज का इस प्रकार का संगठन करना चाहता है कि वर्तमान परस्पर वरोधी स्वार्थोंवाले शोषक तथा शोषित, पीड़क तथा पीड़ित वर्गों का अन्त हो जाय। समाज सहयोग के आधार पर संघटित व्यक्तियों का ऐसा समूह बन जाय जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ सम्भवतः दूसरे सदस्य की उन्नति हो और सब मिलकर सामूहिक रूप से परस्पर उन्नति करते हुये जीवन व्यतीत कर सकें।" समाजवाद, भूमि तथा पूँजी पर समाज का आधिपत्य चाहता है। हर्नशा ने समाजवाद में व्यक्तियों की अपेक्षा समष्टि (समाज को प्रधानता दी है। प्रतियोगिता का उन्मूलन, निजी उद्योगों का अंत, पूँजीपति तथा भूमिपति का विनाश इसका लक्ष्य माना है। समाजवाद का मूल सिद्धान्त यही माना गया है कि समाज का व्यक्ति से अधिक महत्व है। समाज में सबकी उन्नति के अवसरों में समानता होनी चाहिए। व्यक्तिगत साहस तथा हानिकारक स्पर्धा को समूल नष्ट करना ही राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय शान्ति का द्योतक है। समाजवाद परिवर्तनों से आगे बढ़ता जा रहा है। प्लेटो के युग में समाज को इस विचार की एक रूप रेखा ही मिली थी। उनका साम्यवाद कितना सुनहला साम्यवाद है। राबर्ट ओविन तथा फेरियर ने फ्रांस की राज्यक्रान्ति में इसका विकास किया। लुई ब्लाँक तथा लासेलीने फ्रांस के प्रजातंत्र में इसे बल दिया। फिर क्रान्तिकारी युग आया जिसका प्रतिपादन महापंडित कार्ल-मार्क्स ने किया। उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्या, वर्गसंघर्ष का सिद्धान्त, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तंत्र और उसके फलस्वरूप शोषणविहीन, वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना की विचारधारा का प्रतिपादन किया।

मार्क्स तथा एंगिल्स के घोषणा-पत्र में भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत, उत्तराधिकार का उन्मूलन, ऋण, यातायात, उद्योग, व्यापार आदि का राष्ट्रीयकरण, मजदूरों को समान स्वतंत्रता; नगर तथा ग्राम के भेद को कम करने तथा राष्ट्रीय पाठशालाओं में प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था की गई। यह घोषणा-पत्र एक क्रान्तिकारी भावना का सृजन करता है। रूस में समाजवाद का प्रारम्भ सबसे पहले हुआ और दिन प्रतिदिन विभिन्न देशों में इस विचारधारा का आरम्भ हो गया है। आज समाजवाद पूँजीवाद के समस्त दोषों का निराकरण करता है। सामाजिक भावना, परमार्थ की भावना को बढ़ाना चाहती है तथा राजनैतिक आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करना चाहती है और व्यक्तिगत स्वामित्व को उठा देना चाहती है। एक नया संदेश लेकर समाजवाद आया है। इसके विभिन्न स्वरूप हैं। कुछ विकासवादी स्वरूप हैं, कुछ क्रान्तिकारी।

समाजवाद के स्वरूप—

(१) **राज समाजवाद या समूहवाद** या समष्टिवाद—यह राज्य के केन्द्रबिन्दु मानकर केन्द्रीय प्रजातांत्रिक सत्ता द्वारा आजकल की अपेक्षा श्रेष्ठतम उत्पादन तथा श्रेष्ठतम वितरण की व्यवस्था करना चाहता है। भूमि तथा उद्योगों पर राज का स्वामित्व तथा प्रबंध होगा और उसके द्वारा उत्पादन तथा समान वितरण किया जायगा। धीरे धीरे जनमत को अपने पक्ष में करके शासनतंत्र पर अधिकार किया जा सकता है और इसी शासनयंत्र द्वारा पूँजीवाद का अंत करके समष्टिवाद की स्थापना की जायगी। प्रचार तथा विचार परिवर्तनमें इनका विश्वास है। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जायगा। राष्ट्रीय वेतन तथा पारिश्रमिक की एक न्यूनतम सीमा निश्चित की जायगी। राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। अमीरों को भारी कर लगेगा और गरीबों को कर भार से मुक्ति मिलेगी। अतिरिक्त सम्पत्ति का प्रयोग सामान्य हित में किया जायगा। सामाजिक हित की भावना का विकास किया जायगा। उद्योगों

का संचालन सामाजिक आवश्यकता तथा हित का ध्यान रखकर किया जायगा।

(२) फेवियनिज्म—यह बुद्धिपरिवर्तन द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहता है। सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक निबंधों तथा खोजों द्वारा जनता की बुद्धि बदलना तथा विचार में परिवर्तन लाना इसका उद्देश्य है। श्रेणीसंघर्ष, क्रान्ति, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में इतना विश्वास नहीं है। ये उत्पत्ति के साधनों पर राष्ट्र का तथा उपभोग के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार चाहते हैं। लोकतांत्रिक राज्य के माध्यम से, संविधानिक पद्धति से समाज की रचना करना इनका उद्देश्य है। इस समाज रचना का आधार सहयोग, सहकारिता तथा अप्रतियोगिता है। अपने उपभोग पर नियंत्रण रखना होगा। एक घर, कुर्सी, चूल्हा आदि वस्तुयें सच्चे सुख के लिए आवश्यक होंगी। सामाजिक उपयोगिता के अनुसार वस्तुओं का मूल्य निश्चित होगा। लाभ, सूद तथा लगान, अन्यायपूर्वक अनुपार्जित आय का यह वाद विरोध करता है और राष्ट्र-वादिता में विश्वास करता है। सहकारिता आंदोलन को ब्रिटेन में इससे बड़ा प्रोत्साहन मिला। यह ब्रिटेन की बौद्धिक शक्ति की देन है। १८८४ ई० में इस फेवियन सोसाइटी की स्थापना हुई। जान बर्नार्डशा, लास्की, वेल्स, कोल आदि विद्वान् इसके सदस्य थे। ये हेनरी जार्ज के सिद्धांतों, कार्ल मार्क्स के विचारों तथा जान स्टुअर्ट के समूहवादी सिद्धांतों से पूर्ण प्रभावित थे।

(३) श्रमसंघवाद—(Syndicalism) सौरेल इस सिद्धान्त का प्रमुख व्याख्याता था। १९वीं शताब्दी में फ्रांस में इस सिद्धान्त का जन्म हुआ। श्रम संगठन नये समाज की नींव है। राज्य को पूँजीपतियों की संस्था मानता है। राज्य की सेवा दासता की भावना उत्पन्न करती है। मध्यवर्गीय सरकारी कर्मचारी इस बात को नहीं जान सकता कि शारीरिक श्रम करने वाला व्यक्ति क्या चाहता है। यह तो केवल श्रमिक

ही जान सकता है। अतएव राज्य का उन्मूलन होना चाहिए। उद्योगों पर श्रमिकों का अधिकार होगा। ये श्रम सभायें सब उद्योगों का प्रबंध करेंगी। उपभोग को नियमित करेंगी तथा सामान्य सामाजिक हितों को क्रियात्मक स्वरूप देंगी। समाज संगठन की इकाई मजदूर सभायें होंगी। ये केन्द्रीय अधिकारों का विकेन्द्रीकरण चाहते हैं। श्रम संघों का संघात्मक समाज होगा। ये वर्गसंघर्ष में विश्वास करते हैं। श्रमसंघों द्वारा समाज की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ण पूर्ति की जायगी। यह सिद्धान्त अराजकतावाद, समाजवाद तथा मजदूर समाजवाद का संमिश्रण है। वैधानिक तरीके में इनका विश्वास नहीं है। ये प्रत्यक्ष उपाय में विश्वास करते हैं जैसे हड़ताल, बहिष्कार, लेविल तथा माल हानि में।

(४)गिल्ड समाजवाद—यह ब्रिटेन की उपज है। १९०६ में ए० जे० पेन्टी ने इस विचार की व्याख्या की है। औद्योगिक क्षेत्र में स्वशासन की स्थापना करना आवश्यक है। मध्य युग के कारीगरों की यह संस्था आज भी स्थापित होनी चाहिए। हाब्सन, ओरेज, कोल इत्यादि इस सिद्धान्त के बड़े व्यवहारिक पोषक हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में विषमता, शोषण आदि का राज्य होता है। उद्योगों पर राज्य का अधिकार न होगा बल्कि इन गिल्डस् का अधिकार होगा। पेशेवर या धन्धात्मक लोकतंत्र के आधार पर समाज का निर्माण होगा। वेतन प्रथा का अंत हो जायगा। हर एक आदमी सबका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता अतएव पेशेवाले ही अपने पेशे का प्रतिनिधित्व करें। सामान्य हितों जैसे रक्षा, शिक्षा, कर, कानून आदि पर राष्ट्रीय अधिकार होगा। इसका भार राज्य के कंधे पर होगा। स्थानीय हित जैसे पुलिस, पार्क, पानी, बिजली, स्वच्छता इसका भार नगरपालिकाओं के ऊपर होगा। उत्पत्ति की प्रत्येक समस्यायें जैसे मजदूरी, घंटा, काम आदि का प्रबंध कारखानें की समिति करेगी। उत्पादकों की समिति से सलाह करने के लिए उपभोक्ताओं की भी समिति होगी और यह उत्पादन व्यय तथा मूल्य का निर्धारण करेगी।

(५) अराजकतावाद—समाज के स्वतंत्र संघटन का सिद्धान्त है। मनुष्य को उत्पादक की हैसियत से पूँजीवाद से मुक्ति दिलाना, व्यक्ति को नागरिक की हैसियत से राज्य के बंधन से मुक्ति दिलाना, मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में धार्मिक स्वतंत्रता दिलाना, ऐच्छिक और स्वायत्त समुदायों द्वारा निर्मित अराजकतावादी समाज की स्थापना करना जिसमें व्यवस्था तो सर्वत्र हो परन्तु विवशता कहीं भी न हो, यही इसका आदर्श है। क्रोपाटकिन ने इसे जीवन का वह सिद्धान्त तथा आचरण बताया है जिसमें समाज शासन से शून्य समझा जाता है। ऐसे समाज में सामञ्जस्य उन प्रादेशिक एवं व्यावसायिक समुदायों के आपस में किये गये स्वतंत्र समझौतों द्वारा प्राप्त किया जाता है जो उत्पादन, उपभोग व सभ्य प्राणी की अनेकों आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त होते हैं, न कि किसी कानून और सत्ता के आदेश द्वारा। समाज की सब वस्तुओं पर सबका अधिकार है और यदि प्रत्येक स्त्री-पुरुष आवश्यक पदार्थों के उत्पादन में अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान देते हैं तो सब में हिस्सा बटाने का उन्हें अधिकार है। विवशता बहिष्कार, भ्रम तथा पृथकत्व शासन की देन है, परन्तु एकता, प्रेम तथा स्वतंत्रता अराजकतावाद की देन है। इसमें दो विचारधारायें हैं। प्रथम दार्शनिक विचारधारा जिसमें टालस्टाय आदि हैं। इनके अनुसार आवश्यकताओं को कम-से-कम करना, पवित्र जीवन व्यतीत करना, दूसरों की सेवा करना आवश्यक है। इससे व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता है, अतएव इसकी शुद्धि आवश्यक है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता होनी चाहिए। द्वितीय विचार-धारा क्रान्तिकारी अराजकतावाद की है, जिसमें बाकुनुन, क्रोपाटकिन आदि हैं। ये व्यक्तिगत स्वातंत्र्य को मानते है परन्तु सामाजिक स्वतंत्रता को प्राथमिकता देते है। वर्तमान सरकार चाहे वह मजदूरों की ही पार्लि-यामेंट क्यों न हो अनावश्यक है। राज्य कुछ के एकाधिकार की स्थापना करता है। शक्ति की मादकता में अनेकों शोषण, विवशताओं का प्रसार

होता है। अहमन्यता तथा भयभित्ति बन जाती है। भ्रातृभाव केवल स्वतंत्र समाज संगठन से उत्पन्न होता है। सारी सुरक्षा करने में राज्य असमर्थ है। स्वतंत्र व्यापारिक तथा प्रादेशिक आधार पर बने ऐच्छिक संगठनों द्वारा सार्वजनिक कार्य चलेंगे। क्रियात्मक तथा प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण होगा। चर्च, पूँजीवाद तथा राज्य ये तीनों मानव पतन के कारण हैं। इनका सर्वनाश आवश्यक है। ये लोग हिंसात्मक क्रान्तिकारियों की भाँति राज्य को समूल नष्ट करना चाहते हैं।

(६) जनतंत्रवादी समाजवाद---इस वाद में विश्वास करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा समूह और समाज के हित को अधिक महत्व देते हैं। उत्पादन का आधार सामाजिक हित होता है। उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण होता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ण तृप्ति कर पाता है और जीवन के पूर्ण विकास में अग्रसर होता है। पूँजीवादी के शोषण, वर्गसंघर्ष, असमानता, नैतिक पतन, अन्याय तथा अमानुषिक व्यवहार का अन्त होता है। उत्पादन, विनिमय तथा वितरण सब पर समाज का अधिकार होता है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन करता है। प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतानुसार कार्य करने का अवसर, संतुलित उत्पादन, उपभोग का नियमन तथा कार्य के अनुसार उचित पुरस्कार देने का संकल्प करता है। देश में सम्पत्ति का समुचित वितरण होता है। आयकी विषमता न्यूनतम होती है। अधिकतम तथा न्यूनतम पुरस्कार की सीमा निर्धारित कर दी जाती है। वह व्यवस्था जो कुछ व्यक्तियों के हाथों में पूँजी केन्द्रित करती है उसका अन्त हो जाता है। उद्योगों का आभिनवीकरण होता है और मजदूरों का औद्योगिक प्रबन्ध में सक्रिय सहयोग होता है। प्राकृतिक साधनों का राष्ट्रीयकरण हो जाता है। ग्रामोद्योग तथा लघु कुटीर उद्योगों के संवर्धन की व्यवस्था की जाती है। उत्पादन साधनों का प्रयोग समाज के कल्याण के लिए किया जाता है। वितरण का मानवीय आधार होता है। सब में सामाजिक भावना तथा मूल्य का

सृजन करता है। एक सब के लिए तथा सब एक के लिए की भावना का प्रसार करता है। यह वैधानिक ढंग से जनमत-परिवर्तन करता है तथा राज्य को सामाजिक कल्याण के लिए प्रयोग करता है।

(७) साम्यवाद–कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ने अनेकों रूप प्राप्त किया है। वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता मार्क्स माने जाते हैं। इनके विचारों की निष्पन्नता का क्रम इस प्रकार है:—(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (२) इतिहास की आर्थिक व्याख्या (३) वर्गसंघर्ष (४) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त तथा शोषण का सिद्धान्त (५) सर्वहारा वर्ग तथा अधिनाय तंत्र (६) क्रान्तिकारी संक्रान्ति काल (७) अंतिम सोपान-राज्यविहीन, वर्गविहीन तथा शोषणविहीन समाज की स्थापना। कार्लमार्क्स ने जर्मनी के प्राचीन दर्शन, ब्रिटेन के पुरातन अर्थशास्त्र और फ्रांस के समाजवाद का सुन्दर सम्मिश्रण किया है। आर्थिक ढाँचा समाज के राजनैतिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा वैचारिक सब पहलुओं का निर्णायक होता है। इसकी पुष्टि आदिम साम्यवादी समाज, दासमूलक समाज, सामन्तवादी समाज, पूँजीवादी समाज तथा समाजवादी समाज की व्याख्या से कार्लमार्क्स ने की है। हीगल तथा मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक दर्शन का मूलमंत्र यही बताया कि सत्य या विकास दो विरोधी तत्वों या प्रवृतियों के संघर्ष से हस्तगत होने वाली वस्तुयें हैं। समाज में एक प्रवृत्ति चलती है और जब वह बलवती होने लगती है तो समाज में उसकी एक विरोधी प्रवृत्ति जन्म लेने लगती है। दोनों का आगे चलकर संश्लेषण होता है और दोनों के मेल से एक नई प्रवृत्ति का जन्म होता है जो दोनों के गुणों को प्राप्त कर लेती है और श्रेयस्कर होती है। हीगल तथा मार्क्स की व्याख्या में अन्तर अवश्य है। कार्लमार्क्स ने वर्गसंघर्ष की स्पष्ट विवेचना की है और पूँजीवाद के नाश का नकशा खींचा है। पूँजीवाद के नाश के उपरान्त समाज में नये मूल्य तथा नई व्यवस्था की स्थापना होगी। सब साधनों का सामाजीकरण होगा। अभाव, अन्याय

तथा अज्ञान का सर्वनाश होगा। सबमें सामाजिक भावना का प्रसार होगा। सबको अपनी योग्यतानुसार कार्य करना पड़ेगा और आवश्यकतानुसार पुरस्कार प्राप्त होगा। सबकी शक्तियों का उचित विकास होगा।

साम्यवाद तथा समाजवाद में भेद

यहाँ समाजवाद की मूल प्रवृतियों का विवेचन आवश्यक हो जाता है। इसमें उत्पादन तथा वितरण के सब साधनों पर राज्य का स्वामित्व होगा। निजी उद्यम की पूर्ण समाप्ति हो जायगी तथा वैयक्तिक लाभ के स्थान पर सार्वजनिक सेवा या सामूहिक आवश्यकता का मापदण्ड स्थान लेगा। हार्नशा के अनुसार प्रथम भेद यह है कि समाजवाद मानवीय उत्पत्ति के साधनों के क्षेत्र को छोड़कर सब साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर देगा परन्तु साम्यवाद सब प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति, यहाँ तक कि मानवीय अर्थात् श्रम की व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी अंत कर देगा। स्वामित्व के विसर्जन के उपरान्त वितरण के क्षेत्र में जहाँ पूँजीवाद, व्यक्ति को उसके कार्य से कम पुरस्कार देता है, समाजवाद उसकी सेवाओं के अनुकूल पुरस्कार देगा; परन्तु साम्यवाद प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार पुरस्कृत करेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करेगा। विनिमय के क्षेत्र में समाजवाद मुद्रा को मान्यता प्रदान करता है और उसे प्रयोग में लाता है परन्तु साम्यवाद मुद्रा के प्रयोग और उसकी मान्यता को नहीं मानता। राजनैतिक क्षेत्र में समाजवाद अपने आदर्श की सिद्धि के लिए राज्य को महान साधन मानता है। राज्य एक स्थायी संस्था है और राज समाजवाद में तो राज्य सारी समाजवादी पद्धति का केन्द्र है, परन्तु साम्यवाद, राज्य को शोषण, अन्याय तथा दासता का यंत्र मानता है। वर्गसंघर्ष विहीन समाज में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी। साम्यवाद, वर्गशोषण तथा राज्यविहीन समाज की कल्पना करता है। सामाजिक क्षेत्र में समाजवाद कुछ सीमा के भीतर अधिकार, पद, आय तथा विशेष

सुविधाओं के अन्तर को मानता है परन्तु साम्यवाद पूर्ण समता में विश्वास करता है और किसी भी प्रकार के भेद तथा अन्तर को नहीं मानता। समाजवाद विकासवादी है। साम्यवाद क्रान्तिकारी है। समाजवाद वैधानिक तथा लोक-तांत्रिक पद्धति स्वीकार करता है; साम्यवाद हिंसात्मक तथा खूनी तरीका स्वीकार करता है। समाजवाद अपने विरोधियों को तर्क तथा शान्तिमय व्यवहार से अपने अनुकूल बनाने की निरन्तर चेष्टा करता है, परन्तु साम्यवाद अपने विरोधियों को समूल नष्ट करने में विश्वास करता है। समाजवाद सुधारवादी तथा शान्तिमय पद्धतियों का अनुयायी है और साम्यवाद फौजी तथा विनाशकारी पद्धतियों का प्रणेता। समाजवाद लोकतांत्रिक है। साम्यवाद संक्रान्तिकाल में सर्व हारा के अधिनायकत्व में विश्वास रखता है। जब साम्यवाद शोषकों का पूर्ण विनाश कर डालेगा तब वर्गविहीन और राज्य-विहीन समाज की स्थापना होगी और उस समय जो जनतंत्र होगा उसके मूल्य, दर्शन तथा आचार आज के जनतंत्र से श्रेयस्कर तथा भिन्न होंगे।

सहकारिता—

पूँजीवाद अपने व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा प्रेरणा के मूल्य पर अधिकतम उत्पादन का निर्माण करता रहा परन्तु समाज में अनेकों विकारों का प्रसार कर सब प्रकार के मूल्यों को भ्रष्ट करता गया उसके निराकरण के लिए समाजवाद आया, जो सामाजिकता के समक्ष व्यक्तिगत स्वातंत्र्य तथा प्रेरणा को हड़प गया, दोनों में दोषमय पक्ष आ गये। दोनों के गुणों का समन्वय सहकारिता करती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिकता दोनों का पूर्ण संतुलन हो जाता है। इसका सुनहला पथ "सब एक के लिए और एक सारे समाज के लिए" विकास का प्रदर्शक है। यह भी एक आर्थिक पद्धति है जो समाज तथा व्यक्ति को पूर्ण विकसित करने का दावा रखती है। विभिन्न देशों जैसे ब्रिटेन में उपभोक्ता सहकारी स्टोर्स, जर्मनी में सहकारी साख समितियाँ, फ्रान्स में उत्पादक

सहकारी समितियाँ, भारतवर्ष में बहुधन्धी सहकारी समितियाँ, इटली में श्रमजीवी सहकारी समितियाँ, डेन्मार्क में खेतीबारी की सहकारी समितियाँ चल रही हैं। इनमें स्वेच्छा, सहकारिता, प्रेम, सेवा आदि की भावनायें व्याप्त होती हैं। सहकारी कृषि सुधार समितियाँ, सहकारी संयुक्त कृषि समितियाँ, सहकारी सामूहिक कृषि समितियाँ आदि-आदि अनेक रूप से समाज को विकसित करने में सहायक हो रही हैं।

अविकसित आर्थिक व्यवस्था

बहुत से देशों में पूर्ण विकसित आर्थिक व्यवस्था के सब आवश्यक साधन उपलब्ध होते हैं परन्तु आर्थिक, राजनैतिक, तान्त्रिक आदि किसी कारण से वे देश उन साधनों का पूर्ण प्रयोग औद्योगिक विकास में नहीं कर पाते। परतन्त्रता के कारण उस देश का औद्योगिक विकास नहीं हो पाता। निपुण श्रम, आवश्यक पूँजी की कमी के कारण भी विकास नहीं हो पाता। वहुत से देशों में प्राचीन परम्परा की रूढ़ियाँ विकास में बाधक होती हैं। इसीलिए इन अविकसित देशों को अपने विकास के लिए संरक्षण नीति अपनाना पड़ता है। इन देशों को विकसित करने के लिए इनकी मानव शक्ति तथा प्राकृतिक साधनों का आँकड़ा प्राप्त होना चाहिए। विकास की जो योजना प्रस्तुत की जाय उसके उद्देश्य तथा लक्ष्य पूर्णतया स्पष्ट हों और अपनी शक्ति के भीतर हों। इस योजना को चलाने के लिए एक प्रभावशाली तथा विश्वासयुक्त आयोग हो; जिसमें सबके प्रतिनिधि हों तथा जिन्हें योजना के विविध पक्षों का पूर्ण ज्ञान हो।

अविकसित आर्थिक व्यवस्था की योजना के अन्तर्गत आर्थिक विकास का शीघ्रता से प्रयास होना चाहिये। दूसरे, साधारण जन के जीवन मान को ऊँचा उठाने का पूर्ण संकल्प हो। जनता में कार्य करने तथा अपने जीवन को उत्तम बनाने का उत्साह उत्पन्न किया जाय। यदि मशीनों की उपलब्धता न हो सके तो मानव शक्ति का ही पूर्ण प्रयोग किया जाय।

विदेशी मशीन तथा पूँजी की विशेष चिन्ता न करके यदि हम अपने देश की श्रमशक्ति का प्रयोग करते हैं तो इससे विकास भी होगा और जन-चेतना भी उत्पन्न होगी। मशीन का प्रयोग वहाँ नहीं करना चाहिए जहाँ मशीन लोगों को बेकार करती है। अविकसित देशों में श्रमशक्ति अधिक होती है, सस्ती होती है तथा उसे काम भी देना होता है, अतएव उसीका अधिकतम प्रयोग होना चाहिए। इससे लोगों की कार्य करने की अभिरुचि भी विकसित होगी और जीवनमान भी ऊँचा हो सकेगा।

विकास के लिए साधनों का एकत्रीकरण आवश्यक है। लोगों को उपभोग के साथ-साथ बचत करने की ओर अग्रसर करना चाहिए और विकास के लिए त्याग-भावना को जगाना चाहिए। साथ-ही-साथ घाटे के अर्थ प्रबन्धन (Deficit financing) का भी प्रयोग करना चाहिए परन्तु उत्पादन को इतना अधिक बढ़ा दिया जाय कि यह अधिक मुद्रा किसी भी प्रकार से आर्थिक व्यवस्था के स्थायित्व को भयावह न सिद्ध हो। अविकासित आर्थिक व्यवस्था में यदि शिक्षा-दीक्षा से उपभोग करने की शक्ति वृद्धि हो गई तो आय की प्राप्ति के साथ-साथ उपभोग की वस्तुओं की माँग में तेजी से वृद्धि होगी और दाम सतह शीघ्रता से ऊँची हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में बचत की आशा नहीं रखी जा सकती और योजना में दाम सतह की ऊँचाई के कारण परिवर्तन करना पड़ता है। प्रश्न यह खड़ा होता है कि ऐसी परिस्थिति में बचत को बढ़ावा दिया जाय या घाटे के अर्थ प्रबन्धन को। लोगों का मत है कि व्यय पर नियंत्रण करके बचत की ओर अग्रसर किया जाय। एक परिस्थिति की कल्पना और होती है। अविकसित आर्थिक व्यवस्था में जनता की आय बढ़ती है परन्तु जीवनमान निम्न होने के कारण उनमें उपभोग करने की शक्ति प्रबल नहीं होती। इससे दाम सतह की वृद्धि की समस्या नहीं खड़ी होती; और अधिकतम बचत हो सकती है। परन्तु यह परिस्थिति योजना के

लक्ष्य में बाधक होती है। यदि विकास के साथ-साथ लोगों के जीवनमान को ऊपर न उठाया जाय और लोगों में उपभोग शक्ति की वृद्धि न की जायगी तो सारी योजना व्यर्थ हो जायगी। जनसंख्या की वृद्धि होती है परन्तु उसके उपभोग के साधनों की कमी होती है। इससे इस आबादी की गुणात्मक शक्ति निर्बल हो जाती है। आबादी की क्षमता, उत्पादकता और शक्ति का विकास करना आवश्यक है।

आबादी की वृद्धि के साथ-साथ इसी एक पेशे जैसे कृषि पर बहुत बड़ा प्रतिशत अपनी जिविका अर्जन करता है। पेशे में वृद्धि आवश्यक है। औद्योगिक देशों में प्रति व्यक्ति आमदकी औसत कृषक देशों की अपेक्षा अधिक होती है। औद्योगिक देशों में उद्योगों के विकास के साथ-साथ पूरक (Tertiary) उद्यम क्षेत्र का विकास हो जाता है जिसमें लोगों को कार्य भी मिलता है और आय में भी वृद्धि होती है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत बैंकिंग, यातायात, आदि आते हैं; जो उद्योगों के परोक्ष रूप से सहायक होते हैं। कृषि-प्रधान देशों में ऐसी संभावना कम होती है। यदि इस पूरक क्षेत्र में ही उद्यम की वृद्धि होती है और औद्योगिक क्षेत्र के उद्यम में इससे कम अनुपात में वृद्धि होती है तो यह अवस्था भी आर्थिक विकास को विकृत कर देती है। अतएव लोगों को एक पेशे की मनोवृत्ति से अनेकों पेशों की ओर ले जाने के लिए अविकसित देश में प्रारंभ से ही प्रयास होना चाहिए परन्तु यह प्रयास उद्योगों तथा अन्य पूरक उद्योगों में एक आयोजित संतुलित उद्यम प्रदान कराने की ओर होना चाहिए। प्रत्येक कार्य में जितने अनुपात में मनुष्य संतुलित स्थायी आर्थिक व्यवस्था में होना चाहिए; उतने ही उसमें रहें। इससे विविध पेशों तथा कला और क्षमता की वृद्धि होगी। जनता का जीवन मान ऊँचा उठेगा। कृषि तथा अन्य प्राथमिक उद्योगों पर जनसंख्या का एक छोटा अंश ही निर्भर रहे। उन्हीं लोगों को जो भूमि का प्रयोग सुधरे तरीकों के आधार पर करके

अधिकतम उत्पादन कर सकते हैं, कृषि कार्य सौंपा जाना चाहिए अन्य को दूसरे पेशों में भेज देना चाहिए।

अविकसित देशों में उद्योगों का विशेष महत्व है। ये उद्योग तीन प्रकार के होते हैं (१) उत्पादक उद्योग, (२) उपभोग उद्योग तथा (३) ग्रामोद्योग। ग्रामोद्योग अधिक कार्य देने की दृष्टि से इस व्यवस्था में अच्छा माना जाता है। परन्तु इस उद्योग द्वारा मशीनों के पुर्जे जापान तथा स्वीटजरलैंड की भांति यदि बनाए जायँ और राजकीय उद्योगों में इनको मिला कर मशीनें बनाई जायँ तो यह अधिक लाभ-प्रद कार्य सिद्ध होगा। चूँकि अविकसित देश में लोगों का जीवनमान ऊँचा उठाना होता है और लोगों को सस्ते उपभोग का सामान प्रस्तुत करना होता है, अतएव उपभोग-उद्योगों को बढ़ावा देना आवश्यक है। लेकिन इन उद्योगों का पूर्ण विकास तब-तक नहीं संभव है जब तक कि उत्पादक उद्योगों का भी विकास साथ-साथ न किया जाय। ये उत्पादक-उद्योग देश में विकसित उपभोग-उद्योगों की आवश्यकता अनुकूल बढ़ाये जायँ जिससे उनके तैयार माल का उपभोग-उद्योगों में पूर्ण खपत हो सके। उद्योगों के विकास के साथ-साथ यातायात, संवादवाहन, सेवायें, शिक्षा आदि का भी उचित विकास होना चाहिए जो इस औद्योगिक विकास के अनुकूल ही हो और उसमें सहायक हो सके। इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि सामाजिक सेवाओं पर प्रारंभिक अवस्था में उतना व्यय न किया जाय जितना कि उद्योगों की व्यवस्था तथा स्थापना पर व्यय किया जाय। इस औद्यौगीकरण की प्रारंभिक अवस्था में जनता को बहुत त्याग और तपस्या करनी पड़ती है। विकास के लिए देश के प्रत्येक क्षेत्र से सहायता मिलनी चाहिए। निपुण श्रमिक, यांत्रिक श्रमिक, व्यवस्था, पूँजी आदि की सहायता देश का प्राणी-प्राणी इस विकास में अर्पित करे तभी शीघ्र विकास संभव है। यान्त्रिक श्रमिकों को विकसित देशों में शिक्षण दिलाकर अपने देश की आवश्यकतानु-

सार उत्पादन विधि में सुधार करने का प्रयास कराना चाहिए। उत्पादन वृद्धि तथा उद्यम वृद्धि में एकसाम्य होना चाहिए।

अविकसित देश में पूँजी की समस्या बड़ी जटिल होती है। पूँजी की कमी होती है और पूँजी के सृजन के दर में भी कमी होती है। पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति साख मुद्रा से, विदेशी सहायता से, कर्ज से तथा 'कर' से की जाती है। पूँजी का सृजन मजदूरी की उत्पादकता तथा मजदूरी द्वारा मोटे तौर पर होती है। अविकसित देश में उत्पादकता की न्यूनतम सीमा होती है, अतएव सम्पत्ति की विशेष वृद्धि नहीं हो पाती। 'कर' लगाकर पूँजी प्राप्त करने की विधि भी पूर्ण सफल नहीं हो सकती। व्यक्तिगत क्षेत्र को भी बढ़ावा देना आवश्यक होता है। अतएव 'कर' बढ़ावा देने के लिए लगाया जाना चाहिये न कि उचित वितरण को प्रधान उद्देश्य रखकर 'कर' लगाया जाय। जहाँ तक लोगों की बचत की समस्या है, वह भी राष्ट्रीय भावना तथा विकास की भावना को प्रसारित करके, कराई जानी चाहिये। इसके लिए आवश्यक नियंत्रण भी लगाये जाने चाहिए। घाटे के अर्थ प्रबन्धन की विधि का भी प्रयोग करना चाहिये, परन्तु उसके दोषों से सदैव सतर्क रहना चाहिये। इन सब बातों का पूर्ण ध्यान रखकर अविकसित देश की आर्थिक नीति औद्योगिक नीति तथा वित्त नीति का संचालन होना चाहिये। इस आर्थिक व्यवस्था का शिशुवत् पालन-पोषण होना चाहिए तभी इसमें शक्ति आती है।

इसकी प्रमुख समस्यायें यही होती हैं कि देश का औद्योगीकरण करके अधिकतम उत्पादन किया जाय, विविध पेशों का विकास किया जाय, अधिकतम रोजगार की वृद्धि की जाय, लोगों का जीवनमान ऊँचा उठाया जाय, सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग सब लोग कर सकें, पूँजी के विकास के साथ-साथ लोगों की क्षमता में भी वृद्धि की जाय।